इकाई–3 पादक प्रजन्न एवं अनुवंशिकी (Plant Breading and Genetic)

3.1 मेन्डल के आनुवंशिक नियम तथा उनके अपवाद एवं महत्व

3.1.1 परिचय (Introduction)

मनुष्य ने प्रागैतिहासिक समय से ही इस अवधारणा को माना है कि जनकों के लक्षण संततियों में संप्रेशित (Transmit) होते हैं। इस प्रकार के संप्रेशण के नियमों का पता लगाने का इतिहास काफी पुराना है परंतु इसके लिए वैज्ञानिक प्रयोग अट्ठाहरवीं शताब्दी में शुरू हुए। आनुवंशिकता संबंधी वैज्ञानिक अध्ययन तथा संप्रेशण सिद्धांतों का स्पष्टीकरण सर्वप्रथम ग्रेगर जोहान मेन्डल ने किया। इसके परिणामस्वरूप, एक नए विज्ञान, आनुवंशिकी (Genetics) का जन्म हुआ और मेंडल को इसका जनक माना जाता है।

3.1.2 मेंडल का जीवन (Life of Mendel)

चित्र : ग्रेगर जोहन मेंडेल (1822–1884)

मेन्डल का जन्म 22 जुलाई, सन् 1822 में आस्ट्रिया के गाँव में हुआ। इन्होंने किसी तरह अपनी पढ़ाई पूरी करने के पश्चात् 1843 में संत आगस्टिन मोनेस्टरी (Monastery) में प्रवेश लिया तथा 1847 में पादरी नियुक्त हुए। सन् 1851 में मेंडल वियना (Vienna) विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण करने गए, जहाँ उन्होंने गणित, भौतिकीशास्त्र, दर्शन आदि का अध्ययन किया।

मेन्डल 1854 में ब्रुन वापस लौटे तथा चर्च के प्रांगण में रहकर मटर के पौधे में संकरण पर अध्ययन के लिए विभिन्न मटर के बीज इकट्ठा करना शुरू किया। उन्होंने लगभग सभी प्रयोग अपने घर के बगीचे में किए। कठिन परिश्रम के बाद 1865 में ब्रुन के प्रकृति–विज्ञान सोसायटी (Natural History Society of Brunn) की दो बैठकों में मेंडल ने अपना शोधपत्र पढ़ा। मेंडल की खोजों का महत्व उनके निष्कर्षों की पुनः खोज एवं उचित मूल्यांकन 35 वर्षों के बाद ही हो सकी।

मेन्डल के काम की पुनः खोज 1900 में तीन वैज्ञानिकों, हॉलैंड के हयुगो–डी–व्रीज (Hugo-de-Vries), जर्मनी के कार्ल कोरेंस (Carl Correns) तथा ऑस्ट्रिया के एरिक शर्माक (Erich Tshermack) ने स्वतंत्र रूप से कार्य करते हुए की। तब उन्हें मेंडल जैसे ही परिणाम मिले, जिन निष्कर्षों पर मेंडेल 35 वर्ष पूर्व पहुँच चुके थे। इस घटना के बाद मेंडल के नियमों की न केवल पुष्टि हुई बल्कि उनके आधार पर एक नए विज्ञान, आनुवंशिकी का आरंभ हुआ। इसलिए ग्रेगर जोहान मेंडेल को आनुवंशिकी का जनक कहा जाता है।

3.1.3 मेंडेल की असफलता के कारण

एक प्रकार से मेन्डल बहुत भाग्यहीन रहे कि उनके महान कार्य को उनके जीवन में महत्व नहीं मिल पाया। उनके इस विशिष्ट कार्य का उनके जीवन–काल में महत्व न मिलने के कई कारण थे :– (i) मेन्डल के निष्कर्ष पूर्णतः मौलिक थे, (ii) उस समय कोशिका संबंधी ज्ञान अति धूमिल था, (iii) कोशिका संबंधी ज्ञान कम होने के कारण गुणसूत्रों तथा जीन्स की कल्पना भी नहीं की गई। (iv) उन्होंने अपने नियम असतत् लक्षणों पर प्रतिपादित किया जबकि उनसे पूर्व के वैज्ञानिकों ने सदैव सतत् लक्षणों पर ही अध्ययन किया। (v) उस समय के सभी बड़े–बड़े जीव वैज्ञानिक डार्विन की पुस्तक ओरिजिन ऑफ स्पीसीज द्वारा उत्पन्न विवाद में फसे हुए थे, जिसके परिणामस्वरूप वे मेन्डल के निष्कर्षों से प्रभावित नहीं थे। (vi) मेन्डल स्वयं भी अपने परिणामों की सर्व–व्यापकता के प्रति आश्वस्त नही थे क्योंकि मटर के बाद उन्होंने हॉकवीड (*Hieracium*) की जातियों में भी संकरण किया परंतु उन्हें मटर से बिल्कुल भिन्न परिणाम मिला। इस पौधे में संकर मादा–पितृ जैसे ही रहते हैं तथा पृथक्करण नहीं होता है। बाद में पता चला कि इस पौधे में जनन असंग जनन (Apomixis) द्वारा होता है। (vii) मेंडल ने अपने प्रयोगों में गणित का अत्यधिक प्रयोग किया जबकि उस समय तक वैज्ञानिक जीव विज्ञान में गणित के प्रयोग से अनभिज्ञ थे। अतः वे तुरंत मेंडल के नियमों में विश्वास नहीं कर सके।

3.1.4 मेंडल की सफलता के कारण

मेंडल के कार्य की सफलता उनके अध्ययन की विधि तथा सामग्री की चुनाव की बुद्धिमत्ता पर आधारित थी। उनकी सफलता का कारण उनके द्वारा अपने से पहले के वैज्ञानिकों की असफलता के कारणों का सही एवं सुस्पष्ट विश्लेषण था। उनकी सफलता के निम्नलिखित कारण थे। (i) एक समय पर एक, फिर दो और बाद में तीन लक्षणों का अध्ययन, (ii) अध्ययन के लिए चुने गए प्रत्येक लक्षण के केवल दो ऐसे विपर्यासी (Contrasting) रूपों का होना, जिन्हें आसानी से एक–दूसरे से अलग पहचाना जा सके। , (iii) प्रत्येक पीढ़ी में किसी भी लक्षण के विपर्यासी रूपों वाले पौधों की अलग–अलग एवं सही गणना।,

(iv) उनका गणित का ज्ञान, जिससे वे विपर्यासी लक्षणों के अनुपात के महत्व को समझकर उनकी सही एवं स्पष्ट विवेचना कर सकें।

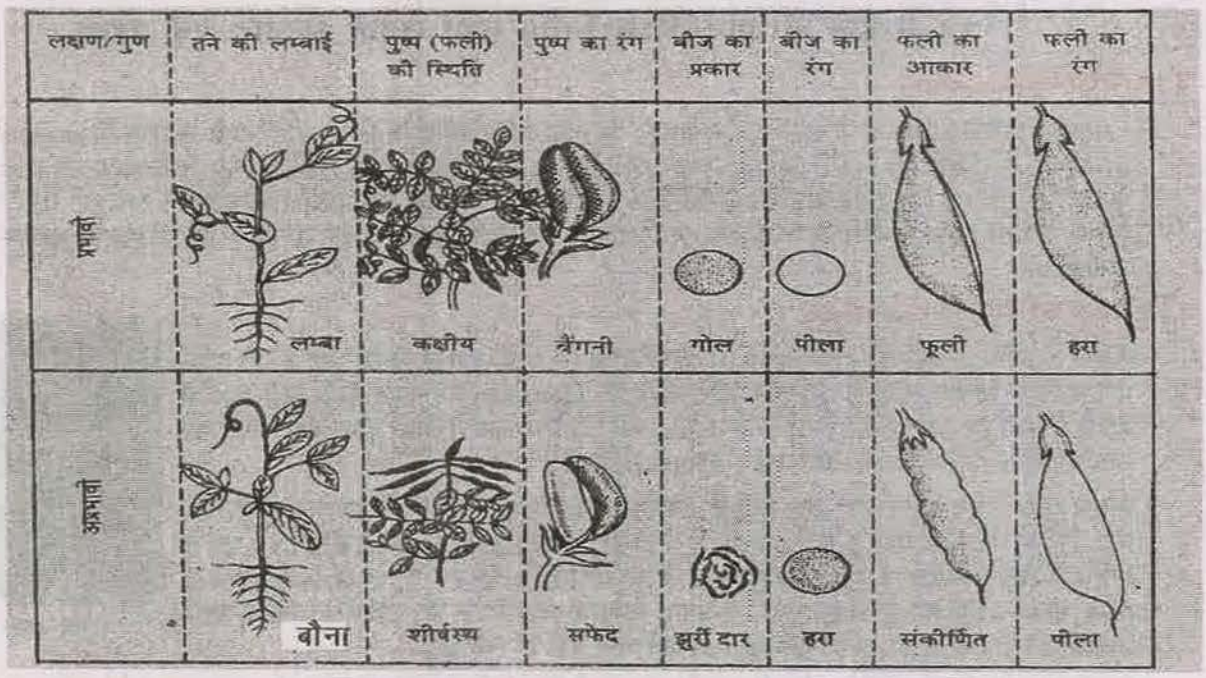

3.1.5. मेंडल के प्रयोग :

मेंडल ने कुल सात (07) लक्षणों की वंशागति का अध्ययन किया। इनमें से प्रत्येक लक्षण के दो विपर्यासी रूप थे। किसी भी जीन की आकारिकीय संरचनात्मक, जैव–रसायनिक या अन्य विशेषता को लक्षण कहते हैं। जैसेः– मटर में पौधों की लंबाई, बीज का आकार, आदि। सामान्यतः, किसी भी लक्षण के दो रूप होते हैं, जिन्हें वैकल्पिक अथवा विपर्यासी लक्षण कहते हैं। जैसेः– मटर में बीज के आकार का गोल एवं झुर्रीदार रूप आदि।

दो भिन्न लक्षणों वाले पौधों अथवा किस्मों (जनक) में से एक के परागकणों से दूसरे के पुष्पों के परागण को संकरण (Hybridization) कहते हैं। अतः संकरण से प्राप्त संतति (संकर या F_1 संतति) एक जनक के नर तथा दूसरे जनक के मादा युग्मकों के संयोग से उत्पन्न होती है। यह निष्कर्ष मेंडल ने 1865 में ही प्रस्तुत कर दिया था जबकि निशेचन की खोज हर्टविग द्वारा 1876 में की गई।

मेंडल ने मटर के बौने पौधे वाले किस्म के पराग से लंबे पौधे के पुष्पों का परागण किया। इस प्रकार से प्राप्त संततियों को संकर (Hybrid) अथवा F_1 पीढ़ी कहते हैं। एक लक्षण के लिए भिन्न जनकों के संकरण को एकसंकर संकरण (Monohybrid cross) कहते हैं। जब किसी पुष्प का परागण उसी पुष्प के परागकणों द्वारा होता है तो उसे स्वपरागण कहते हैं। F_1 में स्वपरागण से प्राप्त संतति को F_2 कहा जाता है। F_1 के स्वनिशेचन से F_2 संततियाँ प्राप्त होती हैं।

मेंडल ने मटर की वर्णित लंबे तथा बौने पौधों का संकरण निम्न प्रकार से किया जिसमें उन्हें कुछ अप्रत्याशित परिणाम मिलेः–

(लक्षणप्ररूपी अनुपात) Phenotypic ratio : 3 लंबा : 1 बौना

(जीनप्ररूपी अनुपात) Genotypic ratio : 1TT: 2Tt:1tt

मेंडल के इस प्रयोग में निम्न बातें मुख्य रूप से उद्यृत हुई

1. दैहिक कोशिका में प्रत्येक जीन की दो प्रतियाँ होती हैं।
2. युग्मकों में प्रत्येक जीन की केवल एक प्रति होती है।

3. F_1 संकर में T एवं t विकल्पी एक ही कोशिका में रहते हुए भी एक दूसरे के गुणों को प्रभावित नहीं करते हैं।

4. F_1 युग्मक बनते समय T एवं t विकल्पियों के अलग–अलग युग्मकों में जाने से, T तथा t युग्मक बराबर आवृति में बनते हैं।

5. नर एवं मादा युग्मकों में यादृच्छिक संयोग होता है।

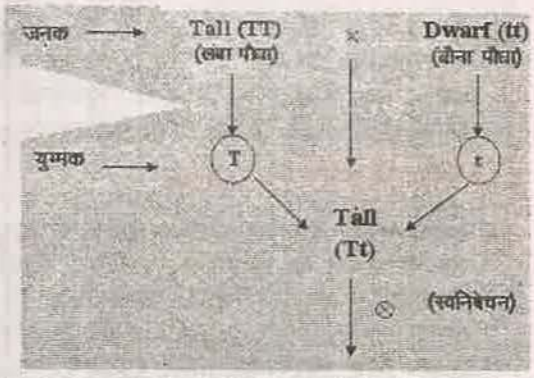

F_1 संतति में युग्मक बनते समय एक जीन के दोनों विकल्पियों का एक–दूसरे से अलग होकर भिन्न–भिन्न युग्मकों में जाना ही विसंयोजन कहलाता है। विसंयोजन के परिणामस्वरूप ही प्रत्येक युग्मक में हर जीन की केवल एक प्रति उपस्थित होती है तथा एकसंकरों की F_2 पीढ़ियों में 3:1 का लक्षणप्ररूपी अनुपात एवं 1:2:1 का जीनप्ररूपी अनुपात मिलता है।

अतः उपरोक्त परिणामों के आधार पर मेंडल का विसंयोजन का नियम (Law of Segregation) बतलाता हैकि "प्रत्येक युग्मक में हर जीन की केवल एक ही प्रति उपस्थित होगी। परिणामस्वरूप, नर एवं मादा युग्मकों के संगलन से उत्पन्न जाइगोट में प्रत्येक जीन की दो प्रतियाँ उपस्थित होंगी।

♀ \ ♂	T	t
T	TT लंबा	Tt लंबा
t	Tt लंबा	tt बौना

प्रत्येक लक्षण की अभिव्यक्ति एक विशिष्ट जीन द्वारा नियंत्रित होती है। प्रत्येक जीन के दो वैकल्पिक रूप होते हैं, जिन्हें विकल्पी कहते हैं। एक जीन के दोनों विकल्पी उस जीन द्वारा नियंत्रित लक्षण विपर्यासी रूपों (Contrasting forms) को नियंत्रित करते हैं। प्रत्येक दैहिक कोशिका में एक जीन की दो प्रतियाँ उपस्थित होती हैं। यदि किसी पौधे में एक जीन की दोनों प्रतियाँ एकसमान हों, तो ऐसे पौधे को समयुग्मज (Homozygous) तथा इस अवस्था को समयुग्मजता (Homozygosity) कहते हैं। परंतु जब किसी पौधे में उपस्थित एक जीन की दो भिन्न प्रतियाँ उपस्थित हों अर्थात् उसमें एक जीन के दोनों विकल्पी उपस्थित हों, तो उसे विषमयुग्मज (Heterozygous) तथा उस अवस्था को विषमयुग्मजता (Heterozyosity) कहते हैं।

विशमयुग्मज अवस्था में जो विकल्पी अपना प्रभाव प्रदर्शित करता है अर्थात् अपनी अभिव्यक्ति करता है, उसे प्रभावी विकल्पी कहते हैं। परंतु जो विकल्पी विषमयुग्मज अवस्था में अपनी अभिव्यक्ति नहीं कर पाता, उसे अप्रभावी विकल्पी कहते हैं। जैसे:– जीन R के लिए समयुग्मजी (Homozygotes) दो प्रकार के हो सकते हैं (RR एवं rr)। इस जीन के लिए विषमयुग्मजी (Heterozygote) Rr होंगे।

3.1.6 स्वतंत्र अपव्यूहन का नियम (Law of Independent Assortment)

मेंडल ने ऐसी किस्मों पर भी संकरण के प्रयोग किए, जो कि एक–दूसरे से दो लक्षणों के लिए भिन्न थीं। इस प्रकार के संकरण (hybridization) में एक किस्म के दाने गोल (बीज आकार) एवं पीले (बीजपत्र रंग, cotyledon colour) तथा दूसरी किस्म के बीज झुर्रीदार (बीज आकार) एवं हरे (बीजपत्र रंग) थे। F_1 पीढ़ी में सभी बीज गोल, पीले थे, क्योंकि गोल बीज आकार झुर्रीदार पर तथा पीला बीजपत्र रंग हरे पर प्रभावी होता है। F_2 पीढ़ी में मेंडल को कुल 556 बीज प्राप्त हुए, जिनमें से 315 गोल–पीले, 108 गोल–हरे, 101 झुर्रीदार–पीले, तथा 32 झुर्रीदार–हरे थे। इनका आपस में अनुपात 9.84 : 3.37 : 3.12 :1 है, जो कि 9 : 3 : 3 : 1 के काफी करीब है।

यदि बीज आकार का विसंयोजन (segregation) बीजपत्र रंग (cotyledon colour) के विसंयोजन से स्वतंत्र हो, तो द्विसंकर (dihybrid) की F_2 पीढ़ी में 9 : 3 : 3 : 1 का अनुपात मिलेगा। स्वतंत्र घटनाएँ उन घटनाओं को कहते है, जो कि एक–दूसरे के घटित होने की प्रायिकता (probability) को प्रभावित नहीं करती हैं। स्वतंत्र घटनाओं के एक साथ घटित होने की प्रायिकता उन घटनाओं के अलग–अलग घटित होने की प्रायिकताओं के गुणनफल के बराबर होती है।

दो (या दो से अधिक) लक्षणों के स्वतंत्र विसंयोजन को स्वतंत्र **अपव्यूहन** कहते हैं। स्वतंत्र अपव्यूहन में किसी युग्मक में **एक जीनके दो विकल्पियों में** से कोई एक विकल्पी दूसरे **जीनके दो** विकल्पियों में से किसी एक विकल्पी के साथ

समान आवृति से जाता है। अर्थात, एक युग्मक में r जीन के दो विकल्पियों (R या r) में से कोई एक विकल्पी (R या r) Y जीन के दो विकल्पियों (Y या y) में से किसीएक के साथ जाएगा, और उसके Y एवं y विकल्पियों के जाने की प्रायिकता बराबर होगी। अतः युग्मकों में इन दोनों जीनों के विकल्पियों के भिन्न संयोजन बनेंगे: RY, Ry, rY एवं ry। इन चारों संयोजनों की आवृत्ति बराबर होगी, अर्थात, प्रत्येक संयोजनकी आवृत्ति ¼ होगी, या इन संयोजनों में 1 : 1 : 1 : 1 का अनुपात होगा।

3.1.7 परीक्षार्थ संकरण (Test cross)

स्वतंत्र अपव्यूह का मुख्य परिणाम चार प्रकार के युग्मकों का समान आवृति या अनुपात में बनना है। इस बात की जाँच परीक्षार्थ संकरण से की जा सकती है। **परीक्षार्थ संकरण** में F_1 संकर का संकरण दोनों लक्षणों के अप्रभावी प्ररूप वाले, अर्थात् द्विअप्रभावी, विभेद या किस्म से करते हैं। स्वतंत्र अपव्यूहन नियम के अनुसार Rr Yy जीनप्ररूप वाले संकर से चार प्रकार के युग्मक, RY, Ry, rY एवं ry, 1: 1 : 1 : 1 के अनुपात में बनने चाहिए। लेकिन द्विअप्रभावी विभेद से केवल एक प्रकार का युग्मक ry उत्पन्न होगा, क्योंकि इस विभेद का जीनप्ररूप rr yy होगा। द्विसंकर के चारों युग्मकों के द्विअप्रभावी जनक के ry युग्मक से संयोग होने पर निम्नलिखित चार प्रकार के जाइगोट बनेंगे: Rr Yy, Rr yy, rr Yy एवं rr yy। इन जाइगोटों या जीनप्ररूपों के 1 : 1 : 1 : 1 अनुपात में मिलने की प्रत्याशा की जाती हैं।

स्वतंत्र अपव्यूहन से उत्पन्न युग्मक (Gametes Produced due to Independent Assortment)

यदि कोई पौधा दो से अधिक जीनों के लिए विषमयुग्मज है, तो वह चार से अधिक प्रकार के युग्मक बनाएगा।

3.1.8 मेंडल के आनुवंशिक नियम के अपवाद एवं महत्व

1865 ई0 मेंडल ने आनुवंशिकता के नियमों का निर्धारण किया तो आनुवंशिकी विज्ञान अपने शिशु–काल में थी। अतः मेंडल ने आनुवंशिकता के संबंध में कुछ बहुत ही साधारण नियमों का आविष्कार किया। परंतु 1900 ई0 के बाद आनुवंशिकी विज्ञान ने बहुत तेजी से प्रगति की तथा आनुवंशिकता के संबंध में मेंडल की खोजों के अपवाद के रूप में अन्य बहुत से तथ्य सामने आए, जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण अपवाद निम्नलिखित हैं :–

(i) मेन्डल का विचार था कि प्रत्येक लक्षण को केवल एक ही जीन नियंत्रित करता है परंतु अब यह भली–भाँति ज्ञात है कि बहुत से लक्षणों को दो अथवा अधिक जीन्स नियंत्रित करते हैं और सत्य तो ये है कि लक्षणों की अभिव्यक्ति बहुत से जीन्स के आपसी सहयोग का परिणाम होती है।

(ii) मेंडल का मत था कि प्रत्येक लक्षण के लिए दो विकल्पी जीन्स होते हैं और उनमें से एक दूसरे पर प्रभावी तथा दूसरा अप्रभावी। अतः F_1 में सदैव प्रभावी लक्षण ही उत्पन्न होता है परंतु सभी लक्षणों में ऐसा नहीं होता है।

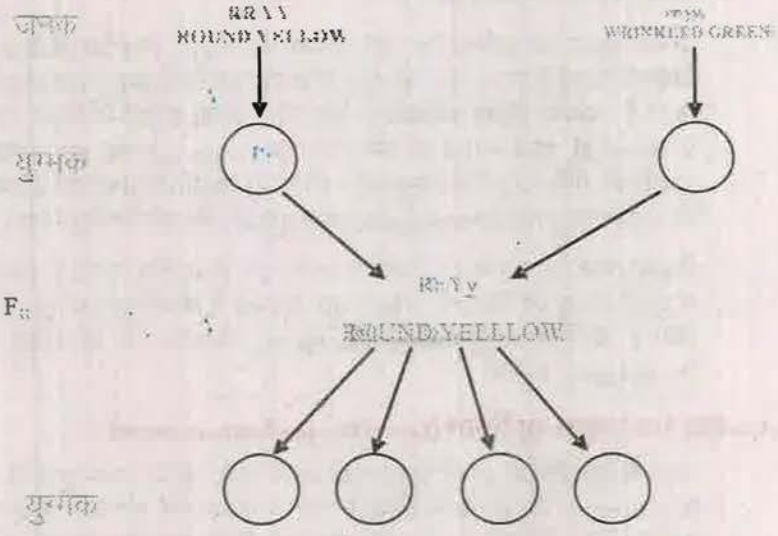

RY	RR YY	RR Yy	Rr YY	Rr Yy
Ry	RR Yy	RR Yy	Rr Yy	Rr yy
rY	Rr YY	Rr yy	rr YY	rr Yy
ry	Rr Yy	Rr yy	rr Yy	rr yy

PHENOTYPIC RATIO: 9 ROUND YELLOW: 3 ROUND GREEN : 3WRINKLED YELLOW: 1 WRINKLED GREEN

कुछ लक्षणों जैसे गुलाबांस (Four' o' clock) पौधे के लाल एवं सफेद पुष्प में गुलाबी पुष्प उत्पन्न होने के कारण अपूर्ण प्रभाविता पायी जाती है। कुछ और पौधों में अतिप्रभाविता तथा कुछ विकल्पी जीन्स सहप्रभाविता भी दिखाते हैं।

(iii) अब यह भी ज्ञात है कि विकल्पी जीन्स की संख्या दो से अधिक भी होती है। ऐसे विकल्पी जीन्स को बहु–विकल्पी कहते हैं। बहु–विकल्पी जीन्स के कारण एक लक्षण के दो से अधिक रूप होते हैं। जैसेः– खरगोश के रोएँ का रंग, ड्रोसोफिला मक्खी में आँखों का रंग आदि।

(iv) मेंडल का अनुमान था कि सभी लक्षणों में स्वतत्र अपव्यूहन होता है परन्तु बहुत से लक्षण स्वतन्त्र अपव्यूहन नहीं बल्कि उनमें सहवर्तिता (Linkage) होती है।

मटर में बीज आकार एवं बीजपत्र रंग के लिए द्विसंकर की F_2 पीढ़ी में प्राप्त परिणामों की स्वतंत्र अपव्यूहन के आधार पर व्याख्या।

दो जीनों स्वतंत्र विसंयोजन से प्राप्त विभिन्न जीनप्ररूप एवं उनकी प्रायिकताएँ

एकसंकर (monohybrid) Rr में विसंयोतन		एकसंकर (monohybrid) Yy में विसंयोजनं		द्विसंकर (dihybrid) Rr Yy में विसंयोजन (segregation)	
जीनप्ररूप	आवृत्ति	जीनप्ररूप	आवृत्ति	जीनप्ररूप	आवृत्ति
RR	1/4	YY	1/4	RR YY	¼×1/4 = 1/16
Rr	2/4	Yy	2/4	Rr Yy	¼×2/4= 2/16
Rr	1/4	yy	1/4	RR yy	¼×1/4=1/16
अनुपात	1 : 2 : 1		1 : 2 : 1	Rr YY	2/4×1/4= 2/16
				Rr Yy	2/4×2/4=4/16
				Rr yy	2/4×1/4= 2/16
				rr YY	¼×1/4= 1/16
				rr Yy	¼×2/4= 2/16
				rr yy	¼×1/4= 1/16

नोटः किसी F_2 बीज का जीनप्ररूप RR YY होने की प्रायिकता किसी का जीनप्ररूप RR होने की प्रायिकता (=1/4) एवं किसी बीज का जीनप्ररूप YY होने की प्रायिकता (=1/4) के गुणनफल के बराबर (=1/4×1/4=1/16) होगी। इसी प्रकार, किसी F_2 बीज का जीनप्ररूप Rr Yy होने की प्रायिकता 2/4×2/4=1/16 होगी, इत्यादि।

सारांश

आनुवंशिकता संबंधी वैज्ञानिक अध्ययन तथा संप्रेषण सिद्धांतों का स्पष्टीकरण सर्वप्रथम ग्रेगर जोहान मेन्डल ने किया। इसके परिणामस्वरूप, एक नए विज्ञान, आनुवंशिकी का जन्म हुआ और मेंडल को इसका जनक माना जाता है। वर्ष 1865 में ब्रुन के प्रकृति–विज्ञान सोसायटी की दो बैठकों में मेंडल ने अपना शोधपत्र पढ़ा। मेंडल की खोजों का महत्व उनके निष्कर्षों की पुनः खोज एवं उचित मूल्यांकन 35 वर्षों के बाद ही हो सकी। मेंडल के काम की पुनः खोज 1900 में तीन वैज्ञानिकों ह्युगो–डी–व्रीज, कार्ल कोरेंस तथा एरिक शर्माक ने स्वतंत्र रूप से कार्य करते हुए की, जब उन्हें मेंडल जैसे ही परिणाम मिले, जिन निष्कर्षों पर मेंडेल 35 वर्ष पूर्व पहुँच चुके थे।

परिणामों के आधार पर मेंडल का विसंयोजन का नियम बतलाता है कि "प्रत्येक युग्मक में हर जीन की केवल एक ही प्रति उपस्थित होगी। परिणामस्वरूप, नर एवं मादा युग्मकों के संगलन से उत्पन्न जाइगोट में प्रत्येक जीन की दो प्रतियाँ उपस्थित होंगी। दो (या दो से अधिक) लक्षणों के स्वतंत्र विसंयोजन को स्वतंत्र अपव्यूहन कहते हैं। स्वतंत्र अपव्यूहन में किसी युग्मक में एक जीनके दो विकल्पियों में से कोई एक विकल्पी दूसरे जीनके दो विकल्पियों में से किसी एक विकल्पी के साथ समान आवृति से जाता है।

इनके आलावा आनुवंशिकी विज्ञान की काफी तेजी से प्रगति के कारण मेंडल के आनुवांशिक नियम के कुछ अपवादों का भी ज्ञात किया गया, जिनका अपना एक अलग महत्व था।

प्रश्नावली

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (i) विसंयोजन

   (ii) परीक्षार्थ संकरण

   (iii) जीनप्ररूप एवं लक्षणप्ररूप

   (iv) एकसंकर एवं द्विसंकर अनुपात

2. मटर में संकरण द्वारा प्राप्त परिणामों के आधार पर मेंडल नें वंशगति के किन नियमों का प्रतिपादन किया था? इनमें से किसी एक नियम की उपयुक्त उदाहरण की सहायता से व्याख्या कीजिए।

3.2 गुणात्मक एवं मात्रात्मक लक्षण एवं उनकी आनुवंशिकता

3.2.1 परिचय

मेंडल के प्रयोग में मटर के पौधें के लक्षण थे– बौना या लम्बा होना, या बीज का आकार गोल या झुर्रीदार होना आदि। उसी प्रकार उन्हीं पौधों के लक्षण थे– बीजों की उपज प्रति पौधे आदि। ये लक्षण मुख्य रूप से निम्नलिखित दो वर्गों में बाँटे जाते हैं: गुणात्मक लक्षण (Qualitative Characters) तथा मात्रात्मक लक्षण (Quantitative Characters)। गुणात्मक लक्षणों की सामान्यतया दो (या कभी–कभी अधिक) विपर्यासी (Contrasting) लक्षण होते हैं, जिससे किसी भी लक्षण के लिए इन जीवों को दो (या अधिक) स्पष्ट वर्गों में बाँटा जा सकता है, तथा इन लक्षणों (कुछ को छोड़कर) की अभिव्यक्ति पर वातावरण का अपेक्षाकृत बहुत कम प्रभाव पड़ता है, जिससे किसी जीव के लक्षणप्ररूप के उसके जीनप्ररूप का अनुमान किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, मटर में बीज आकार के दो विपर्यासी लक्षणप्ररूप होते हैं, गोल व झुर्रीदार। मटर के दानों को इन दो सुस्पष्ट वर्गों में आसानी से बाँटा जा सकता है।

इसके विपरीत, मात्रात्मक लक्षणों में उपस्थित विविधता सतत् होती है, जिससे इन लक्षणों के आधार पर जीवों को सुस्पष्ट वर्गों या समूहों में नहीं बाँटा जा सकता है। इसके साथ ही इन लक्षणों की अभिव्यक्ति पर वातावरण का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। मेंडल द्वारा विकसित आनुवंशिक विश्लेषण की विधि की दो विपर्यासी लक्षणप्ररूपों वाले जनकों में संकरण करना F_1 पीढ़ी में लक्षणप्ररूप का अध्ययन, F_1 पीढ़ी के स्वनिशेचन से मिली F_2 पीढ़ी में विपर्यासी लक्षणप्ररूप वाले समुहों की आवृति ज्ञात करना तथा उनमें अनुपात का परिकलन, परीक्षार्थ संकरण अथवा F_2 संततियों में भी F_2 की भाँति अध्ययन। उपरोक्त विधि गुणात्मक लक्षणों की वंशागति के अध्ययन के लिए पूरी तरह उपयुक्त है। परंतु यह विश्लेषण–विधि मात्रात्मक लक्षणों की वंशागति के अध्ययन के लिए पूरी तरह अनुपयोगी है, क्योंकि इन लक्षणों को सुस्पष्ट समुहों में बाँटा ही नहीं जा सकता है। इसके परिणामस्वरूप, जहाँ मेंडल के शोधपत्र की पुनः खोज के बाद गुणात्मक लक्षणों की वंशागति के बारे में तेजी से नए तथ्य जुटाए गए, वहीं मात्रात्मक लक्षणों की वंशागति के बारे में काफी दिनों तक यही विवाद चलता रहा कि ये लक्षण वंशागत होते हैं अथवा वे केवल वातावरणीय प्रभाव के कारण उत्पन्न होते हैं। इसका निदान बहुकारक परिकल्पना द्वारा संभव हो पाया।

3.2.2 इतिहास

सर्वप्रथम यूल ने 1906 में परिकल्पना प्रस्तुत की, कि मात्रात्मक लक्षणों में सतत् विधिता कई लघु एवं योगशील प्रभाव वाले जीनों द्वारा उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार के जीनों की पौधों तथा जंतुओं में उपस्थिति के प्रमाण तीन वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत किए गए: निल्सन–एहिल ने 1908 में गेहूँ एवं जई के दानों के रंग, ईस्ट ने 1916 में दलपुंज (corolla) की लंबाई तथा डेवेनपोर्ट ने 1913 में मनुष्यों में त्वचा (skin) के रंग पर किए गए अध्ययनों से ये प्रमाण प्रस्तुत किए। इन वैज्ञानिकों की खोजों के परिणामस्वरूप मात्रात्मक लक्षणों की वंशगति की बहुकारक परिकल्पना (Multiple Factor hypothesis) का विकास हुआ जो कि आज सर्वमान्य है।

3.2.3 बहुकारक परिकल्पना (Multiple Factor Hypothesis)

इस परिकल्पना का श्रेय निल्सन एहले को जाता है। उन्होंने गेहूँ एवं जई के दानों के रंग की वंशगति के अध्ययनों के आधार पर इस परिकल्पना को प्रस्तुत किया। निल्सन–एहले को विभिन्न संकरणों से प्राप्त F_2 पीढ़ी में 3 लाल : 1 सफेद, 15 लाल : 1 सफेद अथवा 63 लाल : 1 सफेद दानों का अनुपात मिला। इन अनुपातों के आधार पर यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि उपरोक्त संकरणों में दानों का रंग क्रमशः एक (F_2 में 3 : 1 का अनुपात), दो (15 : 1 का अनुपात) तथा तीन (63 : 1 का अनुपात) जीनों द्वारा नियंत्रित होता है। ध्यान से देखने पर निल्सन–एहिले ने यह पाया कि सभी दानों में रंग का परिणाम एकसमान नहीं था। उदाहरणार्थ, F_2 पीढ़ी में 15 लाल : 1 सफेद दानों का अनुपात देने वाले संकरणों के F_2 दानों को लाल रंग की तीव्रता (intensity) के आधार पर पाँच वर्गों में बाँटा जा सकता है। इन वर्गों में निल्सन–एहले को निम्नलिखित अनुपात मिला : 1 गाढ़ा लाल : 4 मध्यम–गाढ़ा लाल : 6 मध्यम लाल : 4 हल्का लाल : 1 सफेद। इस प्रकार, उन्होंने पाया कि 15 : 1 में 1 : 4: 6 : 4 : 1 सन्निहित था।

इन परिणामों (1 : 4 : 6 : 4 : 1 अनुपात) की व्याख्या के लिए निल्सन–एहिले ने निम्नलिखित परिकल्पना की। (1) गेहूँ की इन किस्मों के दानों का रंग दो जीनों द्वारा नियंत्रित होता है। (2) प्रत्येक जीन का एक विकल्पी रंग उत्पन्न करता है (धनात्मक विकल्पी, Positive Allele), जबकि इसका दूसरा विकल्पी रंग उत्पन्न नहीं करता है (ऋणात्मक विकल्पी, Negative Allele)।

(3) सभी जीनों के धनात्मक विकल्पियों का दाने के रंग पर प्रभाव एकसमान तथा अल्प या थोड़ा होता है और (4) सभी धनात्मक विकल्पियों का प्रभाव योगशील (additive) होता है, अर्थात् दो धनात्मक विकल्पियों द्वारा उत्पन्न रंग केवल एक विकल्पी के प्रभाव का दो गुना, तीन विकल्पियों का प्रभाव तीन गुना आदि होगा। उपरोक्त परिकल्पना ही बहुकारक परिकल्पना (Multiple Factor hypothesis) है। इस परिकल्पना के आधार पर F_2 में 1 : 4 : 6 : 4 : 1 अनुपात की व्याख्या चित्र में प्रदर्शित है।

प्रत्येक धनात्मक विकल्पी (positive allele, बड़े अक्षरों से प्रदर्शित) का दाने के रंग पर अल्प एवं योगशील (additive) प्रभाव होता है, जबकि ऋणात्मक विकल्पियों (negative alleles, छोटे अक्षरों से प्रदर्शित) का दाने के रंग पर कोई प्रभाव नहीं होता है।

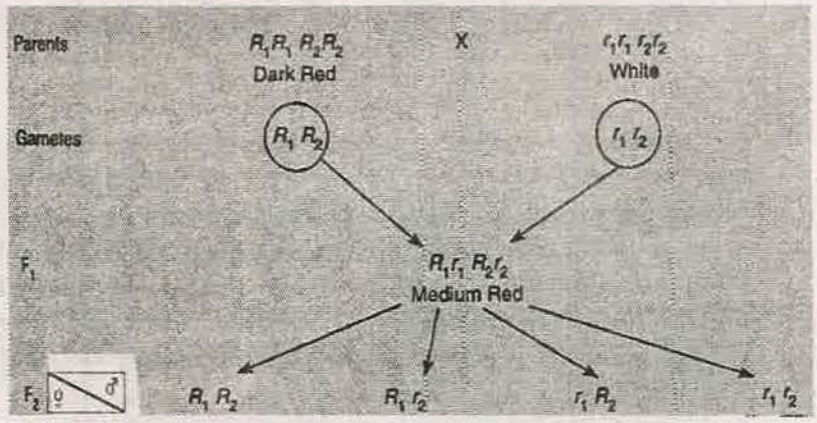

R1 R2	R1 R1 R2 R2 Dark red	R1 R1 R2 r2 Medium dark red	R1 r1 R2 R2 Medium dark red	R1 r1 R2 r2 Medium red
R1 r2	R1 R1 R2 r2 Medium Dark red	R1 R1 r2 r2 Medium red	R1 r1 R2 r2 Medium red	R1 r1 r2 r2 Light red
r1 R2	R1 r1 R2 R2 Medium Dark red	R1 r1 R2 r2 Medium red	r1 r1 R2 r2 Medium red	R1 R1 R2 r2 Light red
r1 r2	R1 r1 R2 r2 Medium red	R1 r1 R2 r2 Light red	r1 r1 R2 r2 Light red	r1 r1 r2 r2 White

चित्र: बहुकारक परिकल्पना द्वारा गेहूँ में दाने के रंग की वंशागति की व्याख्या

3.2.4 मात्रात्मक लक्षणों पर वातावरण के प्रभाव

मात्रात्मक लक्षणों (quantitative characters) की सतत विविधता (continuous variation) निम्नलिखित दो प्रकार से पैदा हो सकती है: (1) इन लक्षणों का कई (10 या अधिक बहुजीनों, Polygenes) द्वारा नियंत्रण, तथा (2) उनकी अभिव्यक्ति पर वातावरण का प्रभाव। ऐसे लक्षणों को प्रभावित करने वाले जीनों की संख्या ज्ञात करना बहुत ही मुश्किल तथा अनिश्चय भरा काम है। परंतु कई लक्षणों को प्रभावित करने वाले जीनों की संख्या 50 से भी अधिक आँकी गई है। इतने अधिक जीनों के विसंयोजन से निश्चित ही सतत् विविधता पैदा होगी।

परंतु यदि जीनों की संख्या 3 से 5 तक भी हो, तो वातावरण के प्रभाव के कारण मात्रात्मक लक्षणों में सतत विविधता उत्पन्न होगी। ईस्ट के प्रयोगों से इन लक्षणों में वातावरणीय विविधता की उपस्थिति के स्पष्ट प्रमाण मिले थे। बाद में किए गए प्रत्येक अध्ययन में वातावरणीय विविधता निश्चित रूप से पाई गई है। अतः मात्रात्मक लक्षणों के लक्षणप्ररूप के आधार पर उनके जीनप्ररूप का अनुमान लगाना काफी मुश्किल या असंभव होता है।

पादप प्रजनन में वरण लक्षणप्ररूप पर ही आधारित होता है। अच्छे लक्षणप्ररूप वाले पौधों से उनके समान ही संतति उत्पन्न होगी अथवा नहीं, यह मुख्य रूप से उस लक्षण की अभिव्यक्ति पर वातावरण के प्रभाव के परिमाण पर निर्भर होगा। यदि किसी लक्षण की अभिव्यक्ति पर वातावरण का प्रभाव अपेक्षाकृत कम पड़ता है, तो जनकों तथा उनकी संततियों के लक्षणप्ररूपों में बहुत समानता होगी। परंतु यदि वातावरण का प्रभाव काफी अधिक हो, तो जनकों तथा उनकी संततियों के लक्षणप्ररूपों में बहुत कम समानता होगी। किसी लक्षण की विविधता में जीनों तथा वातावरण के प्रभावों को उपयुक्त प्रयोगों से ज्ञात किया जा सकता है। ऐसे प्रयोगों की सहायता से किसी लक्षण की विविधता (लक्षणप्ररूपी प्रसरण, Phenotypic variance) को आनुवंशिक (Genetic) तथा वातावरणीय प्रसरणों (Environmental variances) में बाँटा जा सकता है। आनुवंशिक तथा लक्षणप्ररूपी प्रसरणों के अनुपात को वंशागतित्व (Heritability) कहते हैं।

$$\text{वंशागतित्व} = \frac{\text{आनुवंशिक प्रसरण}}{\text{लक्षण रूपी प्रसरण}} \times 100$$

अतः वंशागतित्व के मान से मात्रात्मक लक्षणों पर वातावरण के प्रभाव तथा जनकों एवं संततियों के लक्षणप्ररूपों में समानता का अनुमान किया जा सकता है। किसी लक्षण के वंशागतित्व का मान अधिक होने पर उस लक्षण पर वातावरण का कम प्रभाव तथा जनकों एवं संततियों में अधिक समानता होने की उम्मीद की जाती है। दूसरी ओर किसी लक्षण के वंशागतित्व का मान कम होने पर ठीक इसकी उल्टी आशा की जाती है। अतः प्रजनन के दौरान अधिक वंशागतित्व वाले लक्षणों के लिए वरण अधिक प्रभावशील होगा अपेक्षाकृत उन लक्षणों कि जिनका वंशागतित्व कम होता है।

सारांश

मात्रात्मक लक्षणों की वंशागति उन्ही नियमों के द्वारा नियंत्रित होती है, जो कि गुणात्मक लक्षणों की वंशागति निर्धारित करते हैं, अर्थात् विसंयोजन एवं स्वतंत्र अपव्यूहन के नियम। मात्रात्मक लक्षण गुणात्मक लक्षणों एवं अन्य मात्रात्मक लक्षणों के साथ सहलग्नता प्रदर्शित करते हैं। मात्रात्मक लक्षणों का निर्धारण बहुजीन करते हैं, जिनके गुण अल्पजीनों की तुलना में काफी भिन्न होते है।

मात्रात्मक लक्षणों की वंशागति की प्रयोगों से प्राप्त परिणामों के आधार पर सर्वप्रथम व्याख्या निल्सन–एहिले ने 1908 में की थी। कुछ संकरों की F_2 पीढ़ी में उन्हें औसतन 15 लाल एवं 1 सफेद दाने मिले। ध्यान से देखने पर 15 लाल दानों को भी निम्नलिखित चार सुस्पष्ट समूहों में बाँटा जा सका : 1 गाढ़ा लाल, 4 मध्यम गाढ़ा लाल, 6 मध्यम लाल, 4 हल्का लाल। इस प्रकार F_2 में प्राप्त 15 : 1 अनुपात वास्तव में 1 : 4 : 6 : 4 : 1 अनुपात था।

इन संकरणों में दानों का रंग दो जीनों, R_1 एवं R_2, द्वारा निधारित होता है। इन दोनों जीनों का प्रत्येक धनात्मक विकल्पी दानों के रंग को थोड़ी मात्रा में बढा देता है, अर्थात थोड़ी मात्रा में रंग उत्पन्न करता है। इसके साथ ही, रंग पर सभी धनात्मक विकल्पियों के प्रभाव योगशी होते हैं। धनात्मक विकल्पियों को बड़े अक्षरों, जैसे R_1, R_2 आदि, से चिह्नित करते हैं। इसके विपरीत ऋणात्मक विकल्पियों को छोटे अक्षरों, जैसे r_1, r_2 आदि, से चिन्हित करते हैं।

इस प्रकार के जीनों को बहुजीन (polygenes) कहा जाता है, और उपरोक्त वंशागति को बहुजनी वंशागति (polygenic inheritance) कहते हैं। बहुजीनी वंशागति को ही पहले बहुकारक परिकल्पना (multiiple factor hypothesis) कहा जाता था।

ध्यान देने योग्य है कि गेहूँ के दानों का रंग बहुजीनों द्वारा नियंत्रित तो होता है, लेकिन इसमें असतत् विविधता (discontinuous variation) पाई जाती है, अर्थात् रंग के आधार पर दानों को कुछ स्पष्ट वर्गों में बाँटा जा सकता है। ऐसे लक्षणों को अर्धमात्रात्मक लक्षण (quasiquantitative trait) कहते हैं। ईस्ट (East) ने 1916 में यह निश्चित रूप से दिखा दिया कि वास्तविक मात्रात्मक लक्षण भी बहुजीनों, अर्थात् कम एवं योगशील प्रभाव वाले कई जीनों द्वारा नियंत्रित होते हैं। मात्रात्मक लक्षणों से संबंधित आँकड़ों का सांख्यिकीय (statistical) विश्लषण किया जाता है, और औसत (mean), प्रसरण (variance), विविधता गुणांक (coefficient of variation) आदि का आकलन किया जाता है। इन आकलनों के आधार पर मात्रात्मक लक्षणों की वंशागति के संबंध में निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

प्रश्नावली

1. बहुकारक परिकल्पना की समुचित व्याख्या कीजिए। सिद्ध कीजिए कि यह परिकल्पना मात्रात्मक लक्षणों की वंशागति की स्पष्ट एवं समुचित व्याख्या करने में सक्षम है।
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए:

   (i) मात्रात्मक लक्षण (ii) अतिक्रामी विसंयोजन (iii) बहुकारक परिकल्पना

   (iv) मात्रात्मक लक्षणों पर वातावरण के प्रभाव (v) वंशागतित्व।

3.3 पादप प्रजनन

3.3.1 परिचय

अनाज उत्पादन के इतिहास पर एक नजर डालें तो हमें ज्ञात होगा कि वर्ष 1965–66 में भारत में कुल अनाज का उत्पादन जहाँ 723.4 लाख टन था वहाँ 1978–79 में बढ़कर यह 1313.7 लाख टन हो गया । इस प्रकार मात्र 13 वर्षों मे खाद्यान्न उत्पादन में 81.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई जिसके मूलतः तीन् कारण हैं – (1) शुद्ध कृष्य क्षेत्र (Net Cropped Area) में वृद्धि (2) उन्नत कृषि विधियाँ, खाद, सिंचाई, रोग एवं कीटनाशी दवाओं आदि का उपयोग, तथा (3) फसलों की उन्नत किस्में ।

कुल कृष्य क्षेत्र में अधिक बढ़ोतरी की सम्भावना बहुत कम है, हमारे पास भूमि का रकवा सीमित है और कुल जनसंख्या दिनानुदिन बढ़ती ही जा रही है। इसलिए सम्पूर्ण जनसंख्या को भोजन उपलब्ध कराने के लिए औसत राष्ट्रीय उपज में वृद्धि करना आवश्यक है। इस लक्ष्य को पूरा करने में आधुनिक कृषि विधियों का प्रयोग एवं उन्नत किस्मों की भूमिका महत्वपूर्ण होगी। ऐसा माना जाता है कि फसलों के जीनप्ररूप में असीमित लाभकारी परिवर्तन करने की किया को ही पादप प्रजनन (Plant Breeding) कहते हैं । पादप प्रजनन आनुवंशिक विज्ञान के सिद्धांतों के उपयोग करने की एक कला है जो मानव उपयोगी कृषि उत्पादन बढ़ाने में सहायक होता है । इसलिए हम कह सकते हैं कि पादप प्रजनन कला, विज्ञान के साथ–साथ एक आधुनिक तकनीक है जिससे पौधा के आनुवंशिक गुणों में सुधार कर आवश्यक उत्पाद पैदा किया जाता है ।

3.3.2 पादप प्रजनन का इतिहास

कृषि का विकास लगभग 10,000 वर्ष पूर्व हुआ और उसी समय मनुष्य जंगली पौधों को उगाने के लिए चुना जो पादप प्रजनन के शुरुआत का प्रथम चरण था। जंगली प्रजाति (Species) को मानव प्रबंधन में उगाने या खेती करने को ग्राम्यन (Domestication) कहते हैं । आँकडा बताता है कि दस लाख से ऊपर पौधे की प्रजाति में से लगभग 500 प्रजाति का ही ग्राम्यन हुआ है । ग्राम्यन के दौरान खेती योग्य पौधे, प्रजाति एवं विभेदों (Strains) का उनके खास गुणों के कारण वरण (Selection) हुआ ।

मनुष्य जरूरत के अनुसार विभिन्न फसलों के बीजों को लगाने के लिए एक जगह से दूसरे जगह ले गया होगा । किसी पादप प्रजाति या किस्म को ले जाकर उस स्थान पर उगाया जाना जहाँ वह पहले कभी पाई या उगाई न जाती रही हो उसे पादप पुरःस्थापन (Introduction) कहते हैं। पादप पुरःस्थापन पादप प्रजनन की एक प्राचीन विधि होते हुए भी आज भी अतिमहत्वपूर्ण है।

3.3.3 पादप प्रजनन इतिहास की मुख्य घटनाएँ

वर्ष	वैज्ञानिक	घटना/खोज
700 ई०पू० –	बैविलोन एवं असीरिया निवासी –	खजूर में कृत्रिम परागण।
1694 –	केमेरेरियस –	मक्का में नर एवं मादा जनन अंगों में अंतर ।
1717 –	थॉमस फेयरचाइल्ड –	सर्वप्रथम स्वीट विलियम के साथ कृत्रिम संकर प्राप्त किया जिसे "फेयर चाइल्ड म्यूल" कहा जाता है।
1760–1766–	जोसेफ कोलरयूटर –	तम्बाकू में संकरण के प्रभावों का अध्ययन। पौधे में नर बन्ध्यता अध्ययन।
1759–1835–	नाइट –	सर्वप्रथम संकरण द्वारा फलों की कई प्रभेदों का विकास ।
1840 के आसपास	–ले कूटिए एवं पैट्रिक शिरेफ –	एक पादप वरण एवं संतति परीक्षण विधियों से धान्यों की नई किस्मों का विकास।
1856 –	विल्मोरिन –	संतति परीक्षण को विस्तृत किया तथा चुकन्दर में शर्करा अंश में सुधार के लिए उसका उपयोग।
1866 –	मेंडल –	वंशागति के नियमों का प्रतिपादन मटर में किया।
1882 –	अल्फोन्स डि कैन्डोल –	खेती वाले पौधों का इतिहास एवं उत्पत्ति का अध्ययन।

1900 के आसपास –निल्सन एहिले एवं उनके सहयोगीयों – एकल पादप वरण विधि का विकास ।

1900 –	ह्यूगो डि वेरिस, सेरमेक एवं कोरेन्स –	मेंडल के वंशागति नियमों का पुनः खोज।
1903 –	जोहन्सेन –	शुद्ध वंशक्रम सिद्धांत का प्रतिपादन।
1909 –	शल तथा अन्य वैज्ञानिक –	मक्का में किये गये अध्ययनों के आधार पर संकर मक्का तथा अन्य फसलों की संकर किस्मों का विकास ।
1925 –	क्लासेन एवं गुडस्पीड –	निकोटियाना ग्लुटिनोसा एवं नि0 टबैकम में संकरण करके परबहुगुणित स्पेसीज नि0डाइग्लूटा का संश्लेषण ।
1925 –	एन. आई. वैवीलाव –	फसलों के उत्पत्ति केन्द्र का विकास।
1928 –	स्टेडलर –	एक्स–किरण द्वारा पौधे में उत्परिवर्तन प्रजनन का अध्ययन ।
1937 –	ब्लेक्सले एवं एवरी –	पौधे में काल्वीसीन रसायण का उपयोग कर बहुगुणित प्रजनन का विकास
1967 –	सर ऑटो फ्रेन्केल –	आनुवंशिक संसाधन पद की परिकल्पना ।
1972 –	कार्ल्सन एवं सहयोगियों –	नि0गलाका एवं नि0लैंग्सडॉर्फी के प्रोटोपलास्टों के संगलन से सर्वप्रथम कायिक संकर का विकास।
1974 –	रोम (इटली) में अंतर्राष्ट्रीय पादप आनुवंशिक संसाधन बोर्ड की परिकल्पना।	
1990 –	आनुवंशिक इंजिनियरिंग के द्वारा टमाटर में फ्लेवर सेवर का विकास।	
1992 –	आई0 बी0 पी0 जी0 आर0 का नाम बदलकर अन्तर्राष्ट्रीय पादप आनुवंशिक संसाधन का संग्रह, मूल्यांकन एवं संरक्षण करना है।	

3.3.4 भारत में पादप प्रजनन का इतिहास

1875 –	भारत सरकार द्वारा कृषि विभाग की स्थापना ।
1905 –	पूसा, समस्तीपुर (बिहार) में इम्पीरियल कृषि अनुसंधान संस्थान की स्थापना।
1936 –	आई. ए. आर. आई. दिल्ली स्थानांतरित।
1946 –	संस्थान का नाम बदलकर भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान रखा गया।
1901–05 –	कानपुर, पूना, सबौर, लायलपुर (अब पाकिस्तान) एवं कोयम्बटूर में कृषि कालेजों की स्थापना।
1929 –	इम्पीरियल कृषि अनुसंधान परिषद् की स्थापना।
1946 –	उपरोक्त परिषद् का नाम बदलकर भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् रखा गया।
1956 –	कपास, तिलहन एवं मिलेट पर गहन क्षेत्रीय अनुसंधान परियोजना की शुरुआत।
1957 –	अखिल भारतीय समन्वित मक्का सुधार परियोजना की शुरुआत।
1960 –	भारत में प्रथम कृषि विश्वविद्यालय गोविंद बल्लभ पंत कृषि एवं तकनीकी विश्वविद्यालय पंतनगर, नैनीताल में स्थापित।
1961 –	परियोजना द्वारा प्रथम संकर मक्का का विकास।
1964 –	कपास में संकर किस्म का विकास।
1965 –	अन्य फसलों के सुधार के लिए भी समन्वित परियोजनाओं का शुभारम्भ। इस समय 16 कृषि फसलों के लिए समन्वित परियोजनाएँ चल रही हैं।

3.3.6 पादप प्रजनन के उद्देश्य

पादप प्रजनन का मुख्य उद्देश्य पौधे के वांछित गुणों में सुधार कर उसे मानव उपयोगी बनाना । इसलिए प्रमुख प्रजनन उद्देश्य फसल विशेष पर निर्भर करता है । पादप प्रजनन के कुछ महत्वपूर्ण उद्देश्य निम्न हैं :– अधिक उपज, गुणवत्ता में सुधार, रोग एवं कीट रोधिता, शीघ्र पकना, प्रकाश एवं ताप असंवेदिता, एक साथ पकना, अविशरण, निर्धारी स्वरूप, प्रसुप्ति, नई ऋतुओं के लिए किस्में, अजैविक प्रतिबल रोधी, अविषालु पदार्थों से मुक्ति, विस्तृत अनुकूलनशीलता तथा अन्य सस्य लक्षण जैसे पौधे के लम्बाई, तलशाखन, बौनापन, तलसर्पी (Prostrate) या उर्ध्व स्वरूप (Erect habit) आदि लक्षणों में आवश्यक सुधार भी जरुरी होता है। गेहूँ एवं धान में बौनी किस्म के विकास से उपज में काफी वृद्धि हुई है।

3.3.7 पादप प्रजनन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ

पादप प्रजनन का मुख्य उद्येश्य फसल के अनुरूप उपयोगी भाग (जैसे–बीज, फल, तना, जड़, पत्ता या फूल) में आनुवंशिक सुधार करना है जिसका मानव सभ्यता के विकास में अहम भूमिका होती है। पादप प्रजनन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है :–

1. गेहूँ की बौनी किस्में – गेहूँ व धान की बौनी किस्मों के विकास के कारण ही हरित क्रांति संभव हो सकी थी जो भारत में ही नहीं बल्कि विश्व कृषि की एक महान उपलब्धि रही है। गेहूँ की बौनी किस्मों का विकास महान वैज्ञानिक नार्मन बार्लाग द्वारा मेक्सिको स्थित अन्तर्राष्ट्रीय गेहूँ व मक्का सुधार केन्द्र, सिमिट (CIMMYT) में किया गया। उन्होंने गेहूँ की जापानी किस्म नारिन–10 में पाये जाने वाले बौनेपन के लिए उत्तरदायी जीन का उपयोग किया।

2. धान की बौनी किस्में – धान के बौनी किस्मों का विकास भी जनहित के जिए एक अतिमहत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। बौनी किस्मों का विकास ओराइजा सटाइवा वेराइटी जपोनिका की कम दिनों में पकने वाली डी–जियो–वू–जेन किस्म में पाये जानेवाले बौनेपन के जीन के उपयोग से हुआ है। ताइवान में विकसित ताइचुंग नेटिव–1 तथा फिलीपीन स्थिति अंतर्राष्ट्रीय चावल अनुसंधान संस्थान में विकसित आई आर –8 (इंटरनेशनल राइस 8) का 1966 में भारत में पुरःस्थापन किया गया। ये दोनों किस्में अधिक उपज देनेवाली, पतन रोधी एवं उर्वरा अनुक्रिय थीं जो भारत में काफी लोकप्रिय हुई।

3. भारतीय गन्ने का उत्कृष्टीकरण (Nobilisation of Indian Canes) – गन्ना विकास के क्षेत्र में भारतीय गन्ने का उत्कृष्टीकरण एक महान् उपलब्धि के रूप में जाना जाता है । हमारे देश में पाये जानेवाला गन्ना सैकरम बारबेरी प्रजाति का होता है। यह प्रजाति रोग एवं कीट रोधी तथा भारतीय जलवायु में अनुकूलित होता है, परन्तु इसके विपरित उष्णकटिबंधीय नोबुल गन्ना सैकरम ऑफिसिनेरम अधिक उपज देने वाला मोटा तथा अधिक शर्करा अंश वाला होता है, किन्तु यह रोग व कीट ग्राही तथा भारतीय जलवायु में अनुकूलित नहीं होता है। इसलिए कोयम्बटूर में बार्बर एवं वेंकटरमन ने उत्कृष्ट नोबुल गन्ने का संकरण सै0बारबेरी, सै0 स्पान्टेनियम, सै0 रोबस्टम आदि से कराया। इन संकरणों से उन्होंने भारतीय जलवायु में पूर्ण अनुकूलित रोग व कीट रोधी, अधिक उपज एवं अधिक शर्करा अंश वाली किस्मों का विकास किया। इस प्रक्रिया को हम गन्ने का उत्कृष्टीकरण कहते हैं और ऐसी किस्में उत्कृष्टीकृत किस्में कहलाती है। ये किस्में उत्कृष्ट गन्ना सै0 आफिसिनेरम से औसतन 40 प्रतिशत अधिक उपज देती है। आज विश्व में सारे संस्तुत गन्ने की किस्में उत्कृष्टीकृत हैं।

4. संकर मक्का, ज्वार व बाजारा – मक्का, ज्वार एवं बाजरा में संकर किस्मों का विकास भारत में पादप प्रजनन के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान रखता है। मक्का समन्वित परियोजना में अनुसंधान के परिणामस्वरूप संकर मक्का की कई किस्में विकसित हुई जैसे – गंगा सफेद 2, हाई स्टार्च, डेकन, शक्तिमान–1 आदि। तत्पश्चात् ज्वार एवं बाजरे में संकर किस्मों के विकास के लिए भी ऐसी ही परियोजनाएँ शुरू की गई जिसके फलस्वरूप संकर बाजरा– पी एच बी 10, पी एच बी 14, ए बी जे 1010, बी के 560 आदि एवं संकर ज्वार जैसे सी एस एच 5, सी एस एच 6, सी एस एच 8, सी एस एच 9, सी एस एच 10 आदि का विकास हुआ।

5. संकर कपास – कपास की पहली संकर किस्म, एच–4 (Hybrid 4) का विकास सर्वप्रथम भारत में हुआ जिसे 1970 में विमोचित किया गया। शुरू–शुरू में कपास की संकर बीज का उत्पादन हस्त विपुंसन एवं हस्त परागण द्वारा किया जाता था। परन्तु अब कोशिकाद्रव्यी – आनुवंशिक नर बंध्यता की सहायता से इसका बीज उत्पादन किया जाने लगा है। इससे संकर बीज उत्पादन लागत पहले की अपेक्षा कम हो गयी है। अन्य संकर किस्में है जे0के0एच0वाई01, गोदावरी, एच0 6, सुगना, ए के एच 468, वरलक्ष्मी, जयलक्ष्मी, सावित्री, सी बी एस 156 आदि हैं। वर्त्तमान में देशी कपास की भी दो संकर किस्में जी.कोट.डी. एच.–7 एवं डी.कोट.डी. एच.–9 विमोचित की गई है।

सारांश

फसलों के जीनप्ररूप में परिवर्त्तन कर उसे मानव उपयोगी बनाने की क्रिया को पादप प्रजनन कहते हैं। पादप प्रजनन का मुख्य उद्देश्य फसलों के उपज, गुणवत्ता, रोग एवं कीट रोधी आदि लक्षणों में सुधार कर उन्नत किस्म विकसित करना है। इसलिए पादप प्रजनन को कला, विज्ञान के अलावे प्रौद्योगिकी भी माना जाता है। फसल सुधार के लिए आनुवंशिक विविधता एक मूलभूत आवश्यकता है। भारत में पादप प्रजनन की कई महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ रही हैं, जैसे– धान एवं गेहूँ की बौनी किस्मों का विकास, संकर ज्वार, बाजरा एवं मक्का का विकास, भारतीय गन्ने का उत्कृष्टिकरण एवं संकर कपास का विकास।

प्रश्न

1. पादप प्रजनन की परिभाषा दीजिए। उदाहरण सहित इनके विभिन्न उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
2. भारत में पादप प्रजनन की महत्वपूर्ण उपलब्धियों की व्याख्या कीजिए।

3.4 संकर ओज (Heterosis), इसके आधार एवं उपयोग

3.4.1 परिचय

पर–परागित एवं अलैंगिक जननिक फसलें अत्यधिक विशमयुग्मज होती हैं। अंतःप्रजनन करने पर इनके ओज में काफी ह्रस या कमी होती है। इसके साथ ही, इनके असंबंधित विभेदों में संकरण से प्राप्त संततियाँ काफी ओजपूर्ण होती हैं। परिणामस्वरूप, ऐसी फसलों की किस्में विशमयुग्मज होती हैं। और इनके प्रजनन में अंतःप्रजनन बचाने का हर सम्भव प्रयास किया जाता है।

3.4.2 अन्तःप्रजनन ह्रस

एक ही पूर्वज से उत्पन्न दो व्यष्टियों में संगम या संकरण को अंतःप्रजनन कहते हैं। अंतःप्रजनन के कुछ उदाहरण हैं, स्वनिशेचन, प्रतीप संकरण आदि। अंतःप्रजनन के कारण ओज में होने वाले ह्रस को अन्तःप्रजनन ह्रस्त कहते हैं।

3.4.3 संकर ओज (Heterosis)

जब F_1 पीढ़ी किसी लक्षण (सामान्यतया, उपज) में अपने जनकों से उत्कृष्ट होती है, तो इस दशा को संकर ओज (heterosis) कहते हैं।

3.4.4 इतिहास (History)

सबसे पहले कोल्ग्यूटर ने तम्बाकू के संकरों में संकर ओज की खोज की। बाद के अन्य वैज्ञानिकों ने अन्य पौधों में भी संकर ओज का प्रेक्षण किया। डार्विन ने 1876 में यह निष्कर्ष निकाला था कि असम्बन्धित विभेदों में संकरण से प्राप्त संकर काफी ओजपूर्ण होते हैं। बील ने 1877 से 1882 के बीच मक्के की मुक्त–परागित किस्मों के संकरों में संकर ओज का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि कुछ किस्मों के संकर जनकों की अपेक्षा 40 प्रतिशत तक अधिक उपज देते हैं। संकर ओज का मक्के में विस्तृत अध्ययन ईस्ट व शल ने बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में शुरू किया। बाद में अन्य वैज्ञानिकों ने संकर ओज के उपयोग आदि से सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण खोजें कीं।

3.4.5 संकर ओज के प्रभाव (Effects of Hererosis)

संकर ओज पौधों के किसी भी एक या अनेक लक्षणों (characters) को प्रभावित कर सकता है। सामान्यतया पौधों के आर्थिक लक्षणों को प्रभावित करनेवाला संकर ओज ही पादप प्रजनन या फसल सुधार में उपयोगी होता है। संकर ओज के निम्नलिखित प्रभाव हो सकते हैं। अधिक उपज : सामान्यतया संकर ओज के कारण उप्ज में वृद्धि होती है। संकर ओज का यह प्रभाव हमारे लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।, संकर ओज के फलस्वरूप संकरों की जनन क्षमता जनकों की अपेक्षा अधिक होती है। जनन क्षमता में वृद्धि बीज या अन्य प्रवर्ध्यो के अधिक उत्पादन के रूप में दिखाई पड़ती हैं।, संकर पौधे सामान्यतया जनकों की अपेक्षा अधिक ओजपूर्ण व विशालकाय होते हैं।, कुछ संकर जनकों की अपेक्षा अधिक रोग या कीट रोधी होते हैं।, अधिकांश संकर जनकों की अपेक्षा वातावरणीय परिवर्तनों से अधिक अनुकूलित होते हैं।, कुछ संकरों की वृद्धि दर संबंधित जनकों की अपेक्षा अधिक होती है यद्यपि इन संकरों की अन्तिम या कुल लम्बाई या ऊँचाई जनकों से कम या उनके बराबर हो सकती हैं।, कुछ संकरों में तने की गाँठों, फलियों आदि की संख्या में वृद्धि तो होती है, परन्तु पौधों की लम्बाई में वृद्धि नहीं होती।

3.4.6 संकर ओज का आकलन

संकर ओज (heterosis) के आकलन के लिए कई भिन्न सूत्रों का उपयोग किया जा सकता है। इन सूत्रो का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया गया है:–

औसत संकर ओज (Average Heterosis)

मध्यजनक (mid-parent) के मान की तुलना में F_1 पीढ़ी के निष्पादन की श्रेष्ठता का औसत संकर ओज अथवा सापेक्ष ओज कहा जाता है। मध्य–जनक किसी F_1 के दोनों जनकों के निष्पादन का औसत होता है। औसत संकर ओज का आकलन निम्नलिखित सूत्र से कहते हैं:

औसत संकर ओज (average heterosis) =

$$[(\overline{F_1}-\overline{MP})/\overline{MP}] \times 100$$

संकर ओज उस दशा को कहते हैं, जब F_1 का औसत निष्पादन इसके उत्कृष्ट जनक (superior parent) से अधिक या निकृष्ट (inferior) जनक से कम हो।

हेटरोबल्टियोसिस (Heterobeltiosis)

जब किसी F_1 संकर से औसत निष्पादन इस F_1 के उत्कृष्ट जनक से अधिक होता है, तो इसे हेटरोबल्टियोसिस कहा जाता है। अधिकांश पादप प्रजनक इस दशा को ही वास्तविक संकर ओज मानते हैं, और इसे सिर्फ संकर ओज कहते हैं। इसका आकलन निम्नलिखित सूत्र से करते हैं।

हेटरोबल्टियोसिस = $[(\overline{F_1}-\overline{BP})/\overline{BP}] \times 100$

उपयोगी संकर ओज (Useful Heterosis)

किसी F_1 संकर के औसत निष्पादन के संबंधित फसल की सबसे अच्छी किस्म के निष्पादन से अधिक होने को उपयोगी संकर ओज, आर्थिक संकर ओज अथवा मानक संकर ओज कहते हैं। संकर ओज का यही अकेला आकलन है, जिसकी पादप प्रजनन में उपयोग होती है, क्योंकि इस आकलन से यह पता चलता है कि संबंधित F_1 संकर का एक संकर किस्म के रूप में उपयोग किया जा सकता है अथवा नहीं। इसलिए इस आकलन को आर्थिक संकर ओज भी कहते हैं। इसके आकलन का सूत्र निम्नलिखित है।

उपयोगी / आर्थिक संकर ओज = $[(\overline{F_1}-\overline{BV})/\overline{BV}] \times 100$

जबकि BV संबंधित फसल की सबसे अच्छी किस्म का औसत निष्पादन है।

3.4.7 संकर ओज का आनुवंशिक आधार (Genetic Basis for Heterosis)

आनुवंशिक दृष्टि से संकर ओज की आनुवंशिक व्याख्या के लिए निम्नलिखित दो परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की गईं: (1) प्रभाविता परिकल्पना (Dominance Hypothesis) एवं (2) अतिप्रभविता परिकल्पना (Overdominance Hypothesis)।

3.4.8 (a) प्रभाविता परिकल्पना (Dominance Hypothesis)

यह परिकल्पना सर्वप्रथम डेवेनपोर्ट ने 1908 में प्रस्तुत की थी। वर्ष 1910 में ब्रूस (Bruce) तथा कीबेल एवं पेल्यू ने इसकी विस्तृत व्याख्या की। संक्षेप में, इस परिकल्पना के अनुसार, प्रत्येक जीन का प्रभावी विकल्पी लाभदायक तथा अप्रभावी विकल्पी हानिकारक प्रभाव वाला होता है। परपरागित फसलों में बहुत से अप्रभावी विकल्पी विशमयुग्मज अवस्था में उपस्थित रहते हैं। विशमयुग्मज अवस्था में होने के कारण इन विकल्पियों का पौधों पर हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ता है। अंतःप्रजनन के कारण ये अप्रभावी विकल्पी समयुग्मज अवस्था में आ जाते हैं। समयुग्मज अप्रभावी विकल्पियों के हानिकारक प्रभाव के कारण पौधों के ओज में कमी आ जाती है। यही अंतप्रजनन ह्रास का कारण है। इसके विपरीत, संकरण करने पर संकरों में अप्रभावी विकल्पी विशमयुग्मज हो जाते हैं। इससे इनके विकल्पियों के हानिकारक प्रभाव इनके प्रभावी विकल्पियों द्वारा तिरोहित कर दिए जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप, संकर अपने जनकों की अपेक्षा अधिक ओजपूर्ण होते हैं, यही संकर ओज का आनुवंशिक कारण हैं।

इस परिकल्पना की कुछ मुख्य बातें निम्नलिखित हैं : (1) संकर ओज से संबंधित जीनों के प्रभावी विकल्पी लाभदायक प्रभाव उत्पन्न करते हैं, जबकि इनके अप्रभावी हानिकारक होते हैं। (2) संकर ओज प्रभावी विकल्पियों द्वारा अप्रभावी विकल्पियों के हानिकारक प्रभावों को ढँक लेने के कारण उत्पन्न होता है, न कि विशमयुग्मजता के कारण। (3) अन्तःप्रजनन ह्रास अप्रभावी विकल्पियों के हानिकारक प्रभावों के कारण होता है, न कि समयुग्मजता के कारण, तथा (4) संकर ओज तभी उत्पन्न होगा, जब दो अन्तःप्रजातों में एक–दूसरे में उपस्थित अप्रभावी विकल्पियों के प्रभावी विकल्पी उपस्थित होंगे, जिससे वे उनके हानिकारक प्रभावों ढक सकें। इस कारण, (5) जीनप्ररूपों AA BB CC DD एवं Aa Bb Cc Dd का निष्पादन एकसमान होगा।

प्रभावित परिकल्पना पर आपत्तियाँ

इस परिकल्पना पर निम्नलिखित दो मुख्य आपत्तियाँ उठाई गई हैं।

1. इस परिकल्पना के अनुसार ऐसे अन्तःप्रजात प्राप्त करना संभव है, जो कि प्रभावी विकल्पियों के लिए समयुग्मज हों। ऐसे अन्तःप्रजातों का निष्पादन सर्वोत्तम संकरों के एकसमान होगा। परन्तु ऐसे अन्तःप्रजात अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं।

2. F_2 पीढ़ी में मात्रात्मक लक्षणों का बंटन विशम (skewed), अर्थात् एक ओर झुका हुआ होना चाहिए, परन्तु वास्तव में यह सममित (symmetrical) होता है।

आपत्तियों का निराकरण (Explanation of the Objections)

इन आपत्तियों का निराकरण जोन्स (Jones) ने 1917 सें सहलग्न की प्रभाविता परिकल्पना (Hypothesis of Dominance of linked genes) द्वारा किया। इस परिकल्पना के अनुसार, एक ही लक्षण को प्रभावित करने वाले प्रभावी तथा अप्रभावी जीन प्रतिकर्शण अवस्था (repulsion phase) में सहलग्न होते हैं। अतः सभी प्रभावी जीनों के लिए समयुग्मज अन्तःप्रजात प्राप्त करना लगभग असम्भव होता है। इसके साथ ही, ऐसे लक्षणों का बंटन भी सममिज होगा। बाद में, 1921 में, कोलिंस ने यह सिद्ध किया कि यदि किसी लक्षण को नियन्त्रित करने वाले प्रभावी जीनों की संख्या अधिक (10 या अधिक) हो, तो उनमें सहलग्नता के बिना ही उस लक्षण का बंटन सममिज होगा, एवं सभी प्रभावी जीनों के लिए समयुग्मज अन्तःप्रजात उत्पन्न करना असम्भव होगा।

3.4.8 (b) अतिप्रभाविता परिकल्पना (Overdominance Hypothesis)

इस परिकल्पना की प्रस्तावना ईस्ट एवं शल ने 1908 में स्वतंत्र रूप से की थी। इस परिकल्पना के अनुसार कम–से–कम कुछ जीनों के विषमयुग्मज (जैसे Aa) दोनों समयुग्मजों (जैसे, AA एवं aa) की तुलना में उत्कृष्ट होते हैं। इस प्रकार संकर ओज का कारण विषमयुग्मजता होती है, और अन्तःप्रजनन ह्रस समयुग्मजता के कारण उत्पन्न होता है। अतः इस परिकल्पना के अनुसार, मुक्त–परागित किस्मों के बराबर उपज देने वाले अन्तःप्रजात नहीं प्राप्त किए जा सकते हैं। ईस्ट ने 1936 में प्रस्तावित किया कि अतिप्रभाविता प्रदर्शित करने वाले जीनों के बहुविकल्पी होते हैं, जैसे a1,a2,a3,a4 आदि। ईस्ट के अनुसार अपसारी या भिन्न विकल्पियों के लिए विशमयुग्मजों (जैसे a1 a4) में संकर ओज का परिमाण कम अपसारी विकल्पियों के लिए विषमयुग्मजों (जैसे a1 a2,a2a3 आदि) की अपेक्षा अधिक होगा।

अब तक ऐसे बहुत कम जीन ज्ञात हो सके है, जिनके लिए विशमयुग्मज दोनों समयुग्मजों से उत्कृष्ट होते हैं। न्यूरोस्पोरा के pab जीन तथा मानव के दांत्र कोशिका अरक्तता (s) जीन अतिप्रभाविता प्रदर्शित करते हैं। इसके साथ ही, मक्के के Ma (पकने की अवधि प्रभावित करने वाला) जीन का विशमयुग्मज (Ma ma) भी दोनों समयुग्मजों (Ma Ma एवं ma ma) की अपेक्षा अधिक ओजपूर्ण (vigorous) होता हैं।

प्रयोगों से प्राप्त परिणामों से यह निश्चयपूर्वक कहना सम्भव नहीं है कि दोनों परिकल्पनाओं में से कौन–सी परिकल्पना सही है। परन्तु सबसे अधिक मान्य धारणा यह है कि संकर ओज मुख्य रूप से प्रभाविता के कारण होता है, लेकिन प्रबलता एवं अतिप्रभाविता का भी योगदान हो सकता है।

3.4.10 संकर ओज के आर्थिक उपयोग

संकर ओज का आर्थिक उपयोग संकर, संश्लिष्ट एवं मिश्र किस्मों का खेती के लिए उपयोग करके किया जाता है। अधिकांश परपरागित फसलों में संकर किस्मों का व्यापक उपयोग हो रहा है, जैसे मक्का, ज्वार, बाजरा, सूरजमुखी, अरंड, कपास, प्याज, ब्रैसिका आदि। इसके अतिरिक्त, कई स्वपरागित फसलों में भी संकर किस्मों का उपयोग हो रहा है, जैसे टमाटर, बैंगन, चीन में धान आदि। कुछ अन्य स्वपरागित फसलों, जैसे गेहूँ, में संकर किस्मों के उपयोग के लिए अभी प्रयोग किए जा रहे हैं।

3.4.11 संकर ओज का स्थिरीकरण (Fixation of Heterosis)

F_1 संकरो में इस प्रकार जनन करना, जिसे उनकी संततियों में F_1 संकरो के जीन संयोजन अक्षत रहें, अर्थात् F_1 संकरों की संततियों के जीनप्ररूप पीढ़ी–दर–पीढ़ी वही बने रहें, जो कि इन F_1 संकरों के हैं, तो इसे संकर ओज का स्थिरीकरण कहा जाता है। इसे निम्नलिखित तीन प्रकार से किया जा सकता है: (1)वानस्पतिक प्रवर्धन, (2) असंगजनन एवं (3) संतुलित घातक पद्धति के उपयोग द्वारा।

सारांश

दो असंबंधित लाइनों के संकरण से प्राप्त F_1 जब दोनों जनक लाइनों की अपेक्षा अधिक ओज एवं उर्वरता वाला होता है, तो इस दशा को **संकर ओज** कहते हैं।

संकर ओज की व्याख्या के लिए दो प्रमुख आनुवंशिक परिकल्पनाएँ हैं: (1) प्रभाविता परिकल्पना एवं (2) अति प्रभावितापरिकल्पना । **प्रभाविता परिकल्पना** के अनुसार, संकर ओज विभिन्न जीनों के प्रभावी विकल्पियों द्वारा उनके अप्रभावी विकल्पियों के हानिकारक प्रभावों को ढक लेने के कारण होता है, और अंतःप्रजनन ह्रस अप्रभावी विकल्पियों के समयुग्मज होने से उनके हानिकारक प्रभावों की अभिव्यक्ति के कारण होता है। इसके विपरीत, अतिप्रभाविता परिकल्पना के अनुसार संकर ओज जीनों की विशम्युग्मजता का परिणाम है, जबकि अंतःप्रजनन ह्रस समयुग्मजता के कारण होता है।

इन दोनों में से कौन–सी परिकल्पना सही है, यह ज्ञात नहीं हो सका है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि संकर ओज मुख्य रूप से प्रभाविता एवं प्रबलता के कारण होता है, लेकिन कई जीन अतिप्रभाविता भी प्रदर्शित करते हैं।

प्रश्नावली

1. संकर ओज की परिभाषा दीजिए। संकर ओज के आनुवंशिक आधार की विभिन्न परिकल्पनाओं की व्याख्या कीजिए।
2. संकर ओज के अभिलक्षणों, व्यापारिक उपयोग एवं स्थिरीकरण की विधियों का वर्णन कीजिए।
3. निम्नलिखित में अंतर स्पष्ट कीजिए :
   (i) संकर ओज एवं लक्सूरिएंस
   (ii) प्रभाविता एवं अतिप्रभाविता परिकल्पनाएँ
   (iii) औसत एवं उपयोगी संकर ओज।
   (iv) संकर ओज का स्थिरीकरण।

3.5 फसल सुधार की प्रजनन विधियाँ

मानव की जरूरतों को पूरा करने के लिए फसल सुधार एक आवश्यक एवं सतत् प्रक्रिया है। फसल सुधार के लिए आनुवंशिक विविधता का होना एक मूलभूत आवश्यकता है। विविधता के बिना फसल में सुधार असंभव है। फसलों में विविधता उत्पन्न करने के लिए ग्राम्यन, जननद्रव्य संग्रह, पादप पुरःस्थापन, संकरण, उत्पारिवर्तन (Mutation), बहुगुणिता (Polyploidy), कायिक क्लोनीय विविधता (Somacional Variation) एवं आनुवंशिक इंजीनियरी (Genetic engineering) विधियों की सहारा ली जाती है।

इसके लिए पादप प्रजनन में की जानेवाली क्रियाएँ निम्नलिखित है – (1) विविधता उत्पादन (2) वरण (3) मूल्यांकन (4) गुणन एवं (5) वितरण।

आगे हम कुछ जरूरी प्रजनन विधियों का अध्ययन करेंगे जिसका उपयोग स्वपरागित या पर–परागित फसलों क सुधार के लिए सामान्य रूप से किया जाता है।

3.5.1 पादप पुरःस्थापन

पौधे के किसी प्रजाति या विभेद को एक देश या स्थान से दूसरे देश या स्थान जहाँ वह पहले न पाया जाता हो, में ले जाकर उगाने को पादप पुरःस्थापन कहते हैं। अधिकांशतः पुरःस्थापन एक देश से दूसरे देश में किया जाता है परन्तु देश के अंदर भी जब किसी प्रजाति या प्रभेद को एक राज्य से ले जाकर दूसरे राज्य में उगाते हैं, तब भी वह पादप पुरःस्थापन ही कहलाता है। पिछले कुछ वर्षों में पंजाब में धान, पचिम बंगाल में गेहूँ, हरियाणा में अंगूर तथा बिहार (किशनगंज) में चाय उगाना पुरःस्थापन के उदाहरण हैं। पादप पुरःस्थापन को निम्नलिखित दो वर्गों में बाँटा जा सकता है–

1. **प्राथमिक पुरःस्थापन –** जब पुरःस्थापित किस्म का बिना किसी वरण किये या बिना कोई मूल जननप्ररूप में बदलाव किये नई किस्म के रूप में खेती के लिए विमोचित एवं वितरित कर दी जाती है तो इसे प्रथामिक पुरःस्थापन कहते हैं। उदाहरणस्वरूप, गेहूँ में सोनारा 64, लर्मा रोजो; धान में मध्यम ऊँचाई वाला टी.एन.1, आई.आर.8, आई.आर.28 एवं आई. आर.36 प्रभेद।
2. **द्वितीयक पुरःस्थापन –** जब पुरःस्थापित किस्मों में वरण करके या स्थानीय किस्म से संकरण द्वारा मूल जननप्ररूप में बदलाव करके नई उन्नत किस्मों का विकास किया जाता है, तब इसे द्वितीयक पुरःस्थपन कहते हैं। यह विधि काफी सामान्य एवं उपयोगी है। उदाहरण के लिए गेहूँ में कल्याण सोना एवं सोनालिका का विकास मेक्सिको से लाये गये प्रभेदों में वरण करके किया गया था।

पादप पुरःस्थापन से भारत को बहुत सारे महत्त्वपूर्ण फसलें व किस्में मिली है। फसल के रूप में मक्का, आलू, मूँगफली, अरहर, सोयाबीन, चुकन्दर, मिर्च, टमाटर, अनानास, पपीता, अमरूद, अंगूर, कॉफी, रबड़ आदि। फूल में गुलमोहर, फलॉक्स, सैल्विया आदि प्रमुख है।

3.5.1.1 पादप पुरःस्थापन के गुण

1. इसके माध्यम से नई फसलें प्राप्त की जा सकती है।
2. यह नये प्रभेदों के विकास की सबसे सरल, एवं कम समय लेने वाली विधि है, ऐसा तब होता है जब पुरःस्थापित प्रभेद को सीधे नये प्रभेद के रूप में विमोचित किया जाय।
3. जननद्रव्य संग्रह को बढ़ाने एवं आनुवंशिक अपरदन को रोकने में सहायक होता है।
4. फसलों को रोग एवं कीट मुक्त क्षेत्रों में पुरःस्थापित करके रोगों व कीटों से बचाया जा सकता है। उदाहरण – कॉफी एवं रबड़।
5. विलुप्त हो रहे फसल प्रजातियों को बचाने हेतु पुरःस्थापन सबसे प्रभावकारी विधि है।

3.5.1.2 पादप पुरःस्थापन के अवगुण

1. पुरःस्थापित विभेदों के साथ खरपतवारों का प्रवेश होता है, जैसे सत्यनाशी, गेहूंसा आदि।
2. पुरःस्थापित किस्मों के साथ रोगों का प्रवेश – जैसे, यूरोप से आलू की विलंब शीर्णता, आस्ट्रेलिया से गेहूँ का ध्वज कंड,

श्रीलंका से कॉफी किट्ट आदि।

3. पुरःस्थापित किस्म या विभेदों के साथ कीटों का प्रवेश–जैसे, इटली से आलू कन्द शलभ, सेब का वूली एफिस आदि।
4. आस्ट्रेलिया से पुरःस्थापित यूकेलिप्टस भूमिगत जल भंडार में कमी कर सकता है।

3.5.2 वरण (Selection)

समष्टि (Population) में मौजूद विविधता या उत्पन्न विविधता का लक्षण आधारित वरण आवश्यक है। यह फसल सुधार के लिए आवश्यक क्रिया है। किसी विविधतापूर्ण समष्टि में अच्छे एवं उपयुक्त लक्षणों वाले पौधों या विभेदों को छाँटकर उनसे अगली पीढ़ी उगाना ही वरण कहलाता है। वरण प्राकृतिक या कृत्रिम दोनों हो सकता है। मनुष्य द्वारा वांछित लक्षणों वाले पौधों का वरण को कृत्रिम वरण कहा जाता है।

वरण के दो अनिवार्यताएँ हैं : (1) लक्षण का वंशागत होना, एवं (2) समष्टि में उस लक्षण के लिए आनुवंशिक विविधता का उपस्थित होना । परागण के आधार पर फसल सुधार के लिए शुद्ध वंशक्रम वरण, संतति वरण, समूह वरण, शाकीय (Clonal) वरण आदि मुख्य है।

3.5.2.1 वरण का इतिहास

अट्ठारहवीं सदी में कई किसानों जैसे नाइट (इंग्लैंड), वान मोन्स (बेल्जियम), कूपर (सं0रा0अमेरिका) आदि ने धान्य फसलों में वरण करके कई उपयोगी एवं लोकप्रिय किस्मों का विकास किया । 1843 ई0 में ले कूटिए ने अपने अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकाला कि एकल पादप संततियाँ शेष समष्टि की अपेक्षा अधिक समांगी होती है। शिरेफ ने भी गेहूँ तथा जई में एकल पादप वरण तथा शुद्ध वंशक्रम वरण द्वारा कई किस्मों का विकास किया । विल्मोरिन के संतति परीक्षण अध्ययनों से स्वपरागित एवं पर–परागित फसलों में वरण के प्रभावों में स्पष्ट अंतर दिखाई दिया जिसका आनुवंशिक आधार जोहैन्सन (1903) के शुद्ध वंशक्रम सिद्धांत से हीं स्पष्ट हुआ।

3.5.2.2 वरण विधियाँ

स्वपरागित फसलों के लिए मुख्यतः दो प्रकार की वरण विधियों का उपयोग होता है– (1) समूह वरण (2) शुद्ध वंशक्रम वरण, जबकि परपरागित फसलों में उपयोग किये जाने वाले वरण विधियों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है – (1) संतति परीक्षण के बिना वरण – समूह वरण (2) संतति परीक्षण के साथ वरण – भुट्टे से पंक्ति विधि, आवर्त्ती वरण आदि।

3.5.2.2.1 समूह वरण

समूह वरण द्वारा मिश्रित समूह से एक समान तथा उत्कृष्ट लक्षण प्ररूपों वाले कई पौधों का वरण करके उनके बीजों के मिश्रण से नई किस्म बनायी जाती है। समूह वरण या तो पुरानी अथवा स्थानीय किस्मों में सुधार या फिर शुद्ध वंशक्रम किस्मों का शुद्धिकरण के लिए किया जाता है।

समूह वरण की विधि

प्रथम वर्ष – विविधतापूर्ण समष्टि में से 200–1000 समान लक्षणप्ररूपों वाले पौधों का वरण किया जाता है। इनका वरण इनके ओज, रोग रोधिता तथा अन्य वांछनीय लक्षणों के लिए किया जाता है। वरण किये गये सभी पौधों के बीज एक साथ मिलाकर अगले वर्ष लगाने के लिए रख दिया जाता है। यही मिश्रित बीज नई किस्म है।

द्वितीय वर्ष – प्रथम वर्ष में विकसित बीजों (नई किस्म), उसके मूल किस्म तथा प्रचलित किस्मों को एक साथ पुनरावर्तित प्रारंभिक उपज परीक्षण में बोते हैं। लक्षणप्ररुपों के आधार पर तीनों प्रकार के पौधें का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाता है। यदि नई किस्म उसके मूल किस्म और प्रचलित किस्मों की अपेक्षा उपज आदि गुणों में अच्छा हुआ तो उसे अगले वर्ष के लिए समन्वित उपज परीक्षणों में शामिल किया जाता है।

तृतीय से छठा वर्ष – नई विकसित किस्म को समन्वित उपज परीक्ष के लिए एक कृष्य जलवायु के अंदर कई क्षेत्रों में बोते हैं। इसकी तुलना उस क्षेत्र के प्रचलित किस्म के साथ करते हैं।

सातवाँ वर्ष – विमोचित किस्म का गुणन आरम्भ किया जाता है । इससे आधार बीज एवं क्रमशः प्रमाणित बीज का उत्पादन

कर किसानों के बीच वितरित किया जाता है।

समूह वरण के अनुप्रयोग

1. पुरानी या स्थानीय किस्मों में सुधार
2. शुद्ध वंशक्रम किस्मों का शुद्धीकरण

समूह वरण के गुण –

1. यह पादप प्रजनन की सबसे सरल विधि है।
2. विकसित किस्में अपेक्षाकृत अधिक अनुकूलित होती है क्योंकि इसमें कई शुद्ध वंशक्रम मौजूद होते हैं।
3. विकसित किस्मों में काफी आनुवंशिक विविधता मौजूद होती है। अतः इन किस्मों में कुछ वर्षों बाद भी पुनः वरण करके सुधार किया जा सकता है।
4. यह विधि स्वपरागित एवं परपरागित दोनों फसलों में सुधार के लिए उपयोग किया जाता है।

समूह वरण के दोष

1. इस विधि में वरण लक्षणप्ररूप के आधार पर होता है। साथ में संतति परीक्षण नहीं होने के कारण वरण किए गए पौधों का वास्तविक मूल्यांकन नहीं हो पाता है। इसलिए कोई जरूरी नहीं कि उत्कृष्ट लक्षणप्ररूप वाले पौधों का जननप्ररूप भी उत्कृष्ट होगा।
2. नई विकसित किस्मों में समरूपता की कमी होती है।
3. स्वपरागित फसलों में समूह वरण से ज्यादा प्रभावकारी शुद्ध वंशक्रम विधि होता है।
4. इस विधि के लिए मूल समष्टि मे आनुवंशिक विविधता का होना अनिवार्य है।

समूह वरण की उपलब्धियाँ –

नई किस्मों के विकास में समूह वरण का उपयोग स्वपरागित फसलों की अपेक्षा परपरागित फसलों में बहुत ज्यादा हुआ है। उदाहरणस्वरूप, मक्का में टी 19, टी 41 जौनपुरी; बाजरा में पूसा मोती, बाबापुरी, जामनगर जायंट आदि, ; राई में टी 11, टी 16; तोरिया में अबोहर; पीली सरसों में टी 42, टी 16; आदि किस्मों का विकास हुआ है। स्पपरागित फसलों में इसका प्रयोग मुख्यतः शुद्ध वंशक्रम किस्मों को शुद्ध करने के लिए किया जाता है।

3.5.2.2.2 शुद्ध वंशक्रम वरण (Pureline Selection)

एक समयुग्मज एवं स्वपरागित पौधे की संततियों को शुद्ध वंशक्रम कहा जाता है। शुद्ध वंशक्रम वरण में स्वपरागित फसलों के समष्टि में से बहुत सारे उत्कृष्ट पौधों का वरण कर उनके बीज को अलग–अलग एकत्रित किया जाता है। प्रत्येक पौधे के बीजों से एक पादप संततियाँ उगाते हैं। फिर इनमें से सबसे उत्तम एकल पादप संतति को नई किस्म के रूप में विमोचित किया जाता है। इसलिए इस विधि को हम एकल पादप वरण भी कहते हैं।

शुद्ध वंशक्रम वरण के अनुप्रयोग

1. विवधतापूर्ण स्थानीय या देशी किस्मों में सुधार
2. पुरःस्थापित किस्मों में सुधार
3. पुरानी विविधतापूर्ण शुद्ध वंशक्रम किस्मों में सुधार
4. शुद्ध वंशक्रम में नए लक्षण के लिए वरण
5. संकरों का संयोजन पीढ़ी में वरण –इस पीढ़ी में वरण वंशावली, पुंज एवं प्रतीप संकरण विधि द्वारा करते हैं ।

शुद्ध वंशक्रम वरण की विधि –

प्रथम वर्ष – किसी विविधतापूर्ण समष्टि या किस्म से 200–2000 उत्कृष्ट लक्षणों वाले पौधों का वरण कर उनके बीजों को अलग–अलग एकत्रित कर लिया जाता है।

द्वितीय वर्ष – वरण किए गए पौधों के बीजों से एक पादप संततियाँ उगाते हैं। अब सरलता से आँके जाने वाले लक्षणों (पौधे की लम्बाई, रोग रोधिता आदि) के आधार पर संततियों का दृष्टि मूल्यांकन किया जाता है। इनमें से केवल 15–20 उत्तम लक्षणों वाली संततियों को अगले वर्ष के परीक्षण के लिए अलग किया जाता है जिसे एकल पादप संतति मूल्यांकन कहते हैं।

तृतीय वर्ष – पिछले वर्ष चुनी गई संततियों की प्रचलित किस्म के साथ पुनरावर्तित प्रारंभिक उपज परीक्षण में उगाते हैं। जो संतति चेक से अच्छा होता है उसे आने वाले वर्ष के समन्वित परीक्षण में शामिल कर लिया जाता है।

चौथा से छठा वर्ष – चुने गये सबसे अच्छे संतति या विभेद को उपयुक्त प्रचलित किस्मों के साथ समन्वित उपज परीक्षण किया जाता है। यह परीक्षण अखिल भारतीय समन्वित फसल सुधार परियोजना के अंतर्गत किया जाता है। यदि विभेद या संतति इन तीन वर्षों के परीक्षणों में सर्वोतम प्रचलित किस्म से अच्छा करता है तो उसका विमोचन नई किस्म के रूप में किया जाता है।

सातवाँ वर्ष – विमोचन के पश्चात् इसका बीज गुणन किया जाता है ताकि किसानों तक आधार बीज एवं प्रमाणिक बीजों का वितरण किया जा सके।

शुद्ध वंशक्रम वरण के गुण –

1. इस विधि से पुराने प्रभेद के विविधतापूर्ण या मिश्रित समष्टि में सबसे अधिक सुधार होता है।
2. विकसित किस्में बिल्कुल एकरूप एवं आकर्षक होते हैं।
3. फसल सुधार का यह आसान और सस्ता विधि है।
4. विकसित किस्म को बीज प्रमाणीकरण के लिए पहचानना आसान होता है।

शुद्ध वंशक्रम वरण के दोष –

1. विकसित नई किस्मों का अनुकूलन उसके मूल किस्मों, जिससे नई किस्म विकसित हुई है, की अपेक्षा कम होती है।
2. इस विधि के लिए मूल किस्म के समष्टि में आनुवंशिक विविधता का होना आवश्यक है।
3. समूह वरण की अपेक्षा इस विधि में अधिक समय, श्रम एवं धन की आवश्यकता होती है।

शुद्ध वंशक्रम वरण की उपलब्धियाँ

स्वपरागित फसलों में सुधार के लिए शुरुआती दौर में यह सबसे लोकप्रिय विधि थी । इस विधि से गेहूँ, धान, जौ, उर्द, मूँग, राई, तम्बाकू, अलसी, कुसुम एवं कपास में बहुत प्रभेद विकसित किए गए ।

3.5.3 संकरण (Hybridization)

फसल सुधार के लिए समष्टि में विविधता का होना आवश्यक है और हम जानते हैं कि स्वपरागित फसलों में समूह वरण या शुद्ध वंशक्रम वरण के कारण जो किस्म (शुद्ध वंशक्रम) विकसित होंगे उसके कारण विविधता में ह्रास और अंत में समाप्त होना निश्चित है। अतः इन फसलों में आनुवंशिक विविधता बनाये रखने के लिए तथा अग्रेतर सुधार प्रकिया को जारी रखने के लिए दो भिन्न –भिन्न शुद्ध वंशक्रमों का संकरण सबसे आसान तरीका है।

दो अलग–अलग जीनप्ररूपों वाले पौधों, किस्मों या विभेदों के बीच संगम **(Mating)** कराने को संकरण कहते हैं। इनमें से एक पौधा जिससे पराग लिया जाता है वह नर जनक और दूसरा पौधा जिसमें पराग डाला जाता है वह मादा जनक कहलाता है।

3.5.3.1 संकरण के उद्देश्य

संकरण के दो उद्देश्य हो सकते हैं – (1) संकर बीज उत्पादन (2) आनुवंशिक विविधता उत्पन्न करना।

1. **संकर बीज उत्पादन** – दो भिन्न जीनप्ररूपों वाले पौधों का संकरण के बाद बने एफ–1 पीढ़ी का उपयोग जब खेती के लिए किया जाता है, तो इस एफ–1 (संकर) को संकर किस्म कहते हैं। एफ–1 पीढ़ी में संकर ओज सबसे अधिक होता है और इसका सर्वोत्तम उपयोग इसी पीढ़ी में होता है। इसलिए संकर बीजों को प्रतिवर्ष संकरण द्वारा ही पैदा किया जाता है। बहुत सारे धान्य फसलों एवं सब्जियों का संकर किस्में अनुसंधान संस्थान एवं बाजार में उपलब्ध है।

2. **आनुवंशिक विविधता उत्पन्न करना** – विविधता का उत्पादन संकरण का मुख्य उद्देश्य एवं व्यापक उपयोग है। एफ–1 पीढ़ी के पौधे उन सभी जीनों के लिए विषमयुग्मज होते हैं, जिनके लिए एफ–1 पीढ़ी के नर एवं मादा जनकों में भिन्नता होती है। इन्हीं विषमयुग्मज जीनों का एफ–2 पीढ़ी में विसंयोजन, स्वतंत्र अपव्यूहन एवं पुनर्योजन के कारण आनुवंशिक विविधता उत्पन्न होती है। अतः जितने जीनों के लिए एफ–1 पौधे विष्मयुग्मज होंगे, एफ–2 पीढ़ी में उतनी ही अधिक आनुवंशिक विविधता उत्पन्न होगी। इन विविधताओं का उपयोग संयोजन प्रजनन एवं अतिक्रामी प्रजनन के लिए किया जाता है। संयोजन प्रजनन के लिए प्रतीप संकरण विधि एवं अतिक्रामी प्रजनन के लिए वंशावली विधि सबसे उपयुक्त माना जाता है।

3.5.3.2 संकरण के प्रकार

संकरण के लिए प्रयुक्त नर एवं मादा जनकों में वर्गिकीय (Taxonomic) सम्बन्ध के आधार पर संकरण को निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किया जाता है –

1. **अंतर प्रभेदीय संकरण** – एक ही प्रजाति के दो भिन्न –भिन्न किस्मों के बीच के संकरण को अंतर प्रभेदीय संकरण कहते हैं। पादप प्रजनन में इस विधि का सर्वाधिक उपयोग होता है।

2. **अंतर प्रजातीय संकरण** – दो भिन्न प्रजाति के बीच के संकरण को अंतर प्रजातीय संकरण कहते हैं। ये दो प्रजाति एक ही वंश या अलग–अलग वंश के हो सकते हैं। इसलिए इसे दूरस्थ संकरण या विस्तृत संकरण भी कहते हैं ।

3.5.3.3 संकरण विधि

संकरण क्रिया को पादप प्रजनन में निम्नलिखित आठ चरणों में बाँटा जा सकता है।

1. **संकरण की योजना बनाना**
2. **जनकों का चयन**
3. **जनकों का मूल्यांकन**
4. **विपुंसन (Emasculation)**
5. **थैली लगाना (Bagging)**
6. **टैग लगाना**
7. **परागण**
8. **संकर बीजों को एकत्रित करना एवं उनका भण्डारण**

3.5.3.4 एफ 1 पीढ़ी उगाना

1. संकर बीजों को समुचित दूरी पर बोते हैं ताकि पौधों की देख–भाल अच्छी तरह से हो और अधिक से अधिक बीज प्राप्त हो।
2. प्रत्येक संकर के 20 या अधिक पौधे होना जरूरी है, परन्तु 10 पौधे से भी काम चल सकता है।
3. पीढ़ी में स्वपरागण होने दिया जाता है, किन्तु प्रतीप संकरण विधि में एफ–1 का संकरण आवर्ती जनक से कराया जाता है।

4. अक्सर पर परागित फसलों में पराग संदूषण को रोकने के लिए पुष्पों या पुष्पक्रमों पर थैली चढ़ाना आवश्यक होता है।

3.5.3.5 संकरण के आनुवंशिक परिणाम

संकर पौधे उन सभी जीनों के लिए विषमयुग्मज होते हैं, जिनके लिए उनके दोनों जनक एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इन जीनों में विसंयोजन एवं पुनर्योजन, स्वतंत्र अपव्यहन एवं विनिमय के कारण कई तरह के जीनप्ररूप एवं लक्षणप्ररूप उत्पन्न होते हैं। संकरण के द्वारा संभावित जीन पुनर्योजन की संख्या मुख्यतः तीन बातों पर निर्भर करती है–

1. विस्थलों की संख्या जिसके लिए दोनों जनक एक–दूसरे से भिन्न है।
2. प्रत्येक विस्थल में विकल्पी की संख्या।
3. विभिन्न विस्थल में जीनों के सहलग्नता संबंध विसंयोजित हो रहे जीनों की संख्या जितनी अधिक होगी, F_2 पीढ़ी में जीनप्ररूपों एवं लक्षणोंप्ररूपों की संख्या उसी अनुपात में अधिक होगी । उदाहरण के लिए 5 जीनों के विसंयोजन से 243 विभिन्न जीनप्ररूप तथा 32 लक्षणप्ररूप पूर्ण प्रभाविता **(Complete dominance)** की स्थिति में बनते हैं।

F_2 पीढ़ी में अधिकांश पौधे विषमयुग्मज होती है। F_2 तथा इसके बाद की पीढ़ियों में समयुग्मज की आवृति तीव्र गति से बढ़ती है।

3.5.4 उत्परिवर्त्तन (Mutation)

जीव के किसी लक्षण में आकस्मिक एवं वंशागत परिवर्तन को उत्परिवर्त्तन कहा जाता है। ऐसे तो प्रकृति में उत्परिवर्त्तन स्वतः और निरंतर होता रहता है परन्तु कभी – कभी बाहरी कारकों द्वारा भी जीव में उत्परिवर्त्तन उत्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार उत्परिवर्त्तन को दो भागों में बाँटा जा सकता है।

1. **स्वतः उत्परिवर्त्तन :** जो उत्परिवर्त्तन प्रकृति में स्वतः अर्थात् मनुष्य द्वारा बिना किसी उपचार के उत्पन्न होते हैं उन्हें स्वतः-उत्परिवर्त्तन कहते हैं। इस तरह के उत्परिवर्त्तन की दर बहुत कम (10^{-7} से 10^{-4} प्रति जीन प्रति पीढ़ी) होती है। कभी–कभी नये जीवों की उत्पत्ति भी स्वतः उत्परिवर्त्तन के कारण हो सकता है।
2. **प्रेरित उत्परिवर्त्तन (Induced mutation) :** जब कोई उत्परिवर्त्तन किसी भौतिक या रासायनिक कारक से उपचार करने पर उत्पन्न होता है तो इसे प्रेरित उत्परिवर्त्तन कहा जाता है। इसका दर स्वतः उत्परिवर्त्तन की दर से कई गुणा अधिक होता है। जीवों में किसी कारक द्वारा उत्परिवर्त्तन उत्पन्न करने को उत्परिवर्त्तन प्रेरण कहते हैं।

जिन भौतिक या रासायनिक कारकों का उपयोग उत्परिवर्त्तन उत्पन्न करने के लिए किया जाता है उन्हें उत्परिवर्तजन कहा जाता है । भौतिक उत्परिवर्तन के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के विकिरण आते हैं जिन्हें दो भागों (आयनकारी एवं अनायनकारी) में विभाजित किया गया है। आयनकारी के अंतर्गत एक्स किरण, गामा किरण, अल्फा किरण, बीटा किरण तथा तीव्र एवं तापीय न्यूट्रॉन आते हैं। ये किरण अपने मार्ग में पड़ने वाले परमाणुओं में आयनीकरण तथा उत्तेजन दोनों ही उत्पन्न करते हैं। अनायनकारी के अंदर सिर्फ पराबैंगनी किरणें आती है जिनके कारण परमाणुओं में आयन उत्पन्न नहीं होते परन्तु उत्परिवर्त्तन उत्पन्न करते हैं।

रासायनिक उत्परिवर्तजन के अंतर्गत एथिलमिथेन सल्फोनेट, मिथइलमिथेन सल्फोनेट, एथिलीन एमीन, एथिडियम ब्रोमाइड, एक्रिडिन आरेंज, 5–ब्रोमोयूरेसिल, नाइट्रस अम्ल, सोडियम एजाइड, इत्यादि का उपयोग किया जाता है।

3.5.4.1 उत्परिवर्त्तन के लक्षण

अध्ययनों से स्पष्ट हो चुका है कि स्वत–एवं प्रेरित उत्परिवर्त्तनों की लक्षणों में कोई अंतर नहीं होता है जिनके मुख्य लक्षण निम्न है :– अधिकांश उत्परिवर्त्तन अप्रभावी होते हैं ।, उत्परिवर्त्तन एक या दृच्छिक घटना है और किसी जीन में उत्परिवर्त्तन होना या न होना सिर्फ संयोग पर निर्भर करता है।, अधिकांश उत्परिवर्त्तन हानिकारक प्रभाव वाले होते हैं। लगभग 0.1 प्रतिशत उत्परिवर्त्तन ही उपयोगी एवं लाभदायक होते हैं।, प्रकृति में स्वतः उत्परिवर्त्तन होते रहते हैं और अलग–अलग जीनों में इनकी दर भिन्न होती है।

3.5.4.2 उत्परिवर्त्तन प्रजनन

प्रेरित उत्परिवर्त्तनों का पादप प्रजनन या फसल सुधार में उपयोग को उत्परिवर्त्तन प्रजनन कहते हैं। किसी जीव में उत्परिवर्तजनों का उपयोग कर उत्परिवर्त्तन प्रेरण करने को उत्परिवर्तजनन कहते हैं। भारत में उत्परिवर्तजनन पर प्रयोग सन् 1930 के बाद शुरू हुआ। फसल सुधार हेतु उत्परिवर्त्तन प्रजनन की प्रक्रिया निम्नलिखित चरणों में पूरे किये जाते हैं :

1. कार्यक्रमों के उद्देश्यों का निर्धारण
2. उत्परिवर्तजनन के लिए फसल की किस्म का चुनाव (सामान्यतः सर्वोत्कृष्ट किस्म)
3. पौधे का उपचारित किया जाने वाला भाग (सामान्यतया बीज)
4. उत्परिवर्तजन की मात्रा (सबसे उपयुक्त मात्रा एल डी 50 यानि धातक मात्रा 50है) –

   किसी कारक की वह मात्रा जिससे उपचारित करने पर 50 प्रतिशत व्यष्टियों की मृत्यु हो जाती है उसे कारक की एल डी 50 कहते हैं।
5. उत्परिवर्तजन से उपचारण (विकिरणों से उपचारण के लिए शुष्क बीज एवं रसायनों से उपचारण के लिए 6–10 घंटे तक भिंगोया बीज चाहिए।)

भारत में उत्परिवर्त्तन प्रजनन द्वारा प्रमुख फसलों की कुछ विकसित किस्में

गेहूँ – शरबती सोनारा, एन 36, धान – जगन्नाथ, प्रभावती, मालवीय धान 36, सी आर एम 13, 324, चना – बी जी एम 408, बी जी एम 413, बी जी एम 417, आर एस जी 2, आर एस 11, अरहर – टी भी 1, टी ए टी 10, मूंग – टी ए टी 7, पंत मूंग 2

3.5.5 बहुगुणिता (Polyloidy)

साधारणतः किसी प्रजाति में गुणसूत्रों (Chromosomes) की संख्या स्थिर होती है। परन्तु कोशिकाओं की समसूत्री या अर्द्धसूत्री विभाजन के दौरान कई प्रकार की गुणसूत्रीय अनियमितताएँ होती रहती हैं। परिणामस्वरूप प्रजाति के अंदर कुछ ऐसे व्यष्टि उत्पन्न होते रहते हैं जिनकी गुणसूत्रों की संख्या उस प्रजाति की सामान्य गुणसूत्रों की संख्या से भिन्न होती है। ऐसी दशा को हम विषमगुणिता कहते हैं । किसी जीव में उपस्थित गुणसूत्रों की संख्या जब द्विगुणित (2x) अवस्था से भिन्न यानि दो संजीनों (Genome) से कम या अधिक हो तो ऐसी दशा को विषमगुणिता कहते हैं।

विषमगुणिता को दो भागों में बाटाँ जा सकता है–

(1) असुगुणित (Aneuploid) एवं (2) सुगुणित (Euploid)

3.5.5.1 असुगुणिता

दैहिक गुणसूत्र संख्या (2n, Somatic chromosome number) से एक या कुछ गुणसूत्र कम या अधिक होने की स्थिति को असुगुणिता कहते हैं। असुगुणित को 2n±1 की तरह दर्शा सकते हैं।

3.5.5.2 सुगुणिता (Euploids)

जब किसी जीव में गुणसूत्रों की संख्या उसके आधार गुणसूत्र संख्या का गुणनफल होती है तो इसे सुगुणिता कहते हैं। सुगुणिता दो प्रकार के होते हैं–

1. अगुणित (Haploid) - जब किसी कोशिका/व्यष्टि में उस प्रजाति की युग्म की गुणसूत्र संख्या पाई जाती है तो उन्हें अगुणित कहा जाता है। अगुणितों को "n" से व्यक्त किया जाता है। द्विगुणित प्रजातियों के अगुणितों को एकगुणित (Monoploid) कहा जाता है।
2. बहुगुणित (Polyploid) - जब किसी व्यष्टि में एक ही संजीन की दो से अधिक प्रतियाँ अथवा प्रत्येक की दो–दो प्रतियाँ उपस्थित होती है तो इसे बहुगुणित कहते हैं और ऐसी दशा को बहुगुणिता कहते हैं। बहुगुणित दो प्रकार के होते हैं–

   (i) स्वबहुगुणित (Autopolyploid)

(ii) परबहुगुणित **(Allopolyploid)**

स्वबहुगुणित व्यष्टियों में एक ही संजीन की 3 (स्वत्रिगुणित), 4 (स्वचतुर्गुणित) या इससे भी अधिक प्रतियाँ पायी जाती हैं। परबहुगुणित व्यष्टियों में दो या दो से अधिक संजीनों में से प्रत्येक की दो–दो प्रतियाँ उपस्थित होती हैं।

3.5.5.2.1 अगुणितों का उपयोग

1. पौधों के शुद्ध वंशक्रम उत्पादन में
2. रोगरोधी किस्मों के विकास में – जैसे तम्बाकू की जापानी फलूक्यूरड किस्म Mc 1610
3. अंतःप्रजात वंशक्रम **(Inbred line)** के विकास में
4. गेहूँ में नलीसोमिक, मोनोसोमिक एवं ट्राइसोमिक के विकास से आनुवंशिक अध्ययन एवं प्रजनन द्वारा किस्मों में सुधार।

3.5.5.2.2 स्वबहुगुणित का फसल सुधार में उपयोग

1. स्वत्रिगुणित

   (a) स्वत्रिगुणित के कारण केला आदि बीज रहित होता है। स्वत्रिगुणित प्रायः बंध्य होते हैं।

   (b) जापान में स्वत्रिगुणिता का उपयोग बीजरहित तरबूज बनाने के लिए किया गया ।

   (c) स्वत्रिगुणित चुकन्दर की जड़ें द्विगुणितों की अपेक्षा बड़ी होती है।

2. स्वचतुर्गुणित –

   (a) गुणवत्ता में वृद्धि – स्वचतुर्गुणित मक्का में द्विगुणितों की अपेक्षा 43 प्रतिशत विटामिन अधिक होता है।

   (b) स्वनिषेच्यता **(Self incompatibility)** समाप्त करने में स्वचतुर्गुणिता सहायक होता है। आलू, तम्बाकू, ब्रैसिका में ऐसा किया गया है।

   (c) अंतरप्रजातीय संकरण में चतुर्गुणिता काफी उपयोगी होता है।

   (d) नई किस्म का विकास – राई में स्वचतुर्गुणित उन्नत किस्मों का विमोचन किया जा चुका है।

3.5.5.2.3 परबहुगुणिता का फसल सुधार में उपयोग

1. पादप प्रजनन में परबहुगुणिता की उपयोगिता सबसे अधिक है। उसके बाद क्रमशः स्वबहुगुणिता एवं असुगुणिता का उपयोग होता है।
2. प्रजाति के विकास का उद्‌गम पता लगाने में – जैसे गेहूँ, कपास आदि।
3. सेतु प्रजाति **(Bridging Species)** जब संकरण के द्वारा धान्य फसलों में किसी जंगली प्रजाति से लक्षण के स्थानान्तरण में जब कठिनाई होती है तो ऐसी स्थिति में सेतु प्रजाति का उपयोग किया जाता है।
4. नई फसलों का विकास – उदाहरण के लिए ट्रिटिकेल, रेफैनोब्रेसिका आदि।
5. कुछ परगुणिता फसलों में विविधता उत्पन्न के लिए – जैसे ब्रेसिका नेपस में ।

3.5.5.3 बहुगुणिता के उपयोग में कठिनाइयाँ

1. इनके प्रभावों का पूर्वानुमान नहीं किया जा सकता है।
2. नवनिर्मित स्व–तथा पर– बहुगुणितों में सदैव कुछ अवांछनीय लक्षण पाये जाते हैं।
3. स्वबहुगुणितों का अनुरक्षण बहुत कठिन होता है।
4. सामान्यतः बंध्यता का उत्पन्न होना।

3.5.6 समष्टि सुधार (Population Improvement)

परपरागित फसलें बहुत ही विषमयुग्मज और असमांगी या असमरूप (Heterogeneous) होती है। इनके आनुवंशिक बनावट के कारण इनमें विविध मात्रा में अन्तः प्रजनन ह्रास होता रहता है। अतः इस तरह के फसलों में सुधार हेतु प्रयुक्त प्रजनन विधि का ध्येय होता है समष्टि में वरण किये गये पौधों की संख्या पर्याप्त रखकर अन्तःप्रजनन (Inbreeding) को कम से कम रखना जिससे अवांछनीय प्रभाव कम हो। परपरागित फसलों के लिए सामान्यतः प्रयुक्त प्रजनन विधि को दो वर्गों में रखा जा सकता है– (1) समष्टि सुधार (2) संकर या संश्लिष्ट किस्म

विभिन्न प्रजनन विधि द्वारा किसी समष्टि में वांछनीय विकल्पी (Allele) को एकत्रित करने को समष्टि सुधार कहते हैं। इससे समष्टि के गुणों में सुधार होता है। जबकि संकर एवं संश्लिष्ट प्रभेदों में अनेक विभेदों के बीच संकरण कराकर संकरित समष्टि बनाते हैं। परपरागित फसलों के लिए समष्टि सुधार बहुत ही पुरानी विधि है जिसमें समूह वरण या इसके रूपांतरित विधियों का उपयोग किया जाता है। इन विधियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहला जिसमें संतति परीक्षण नहीं किया जाता है जैसे **समूह वरण,** दूसरा जिसमें संतति परीक्षण **किया जाता है,** जैसे भुट्टे से पंक्ति विधि एवं आवर्ती वरण । समूह वरण का विस्तृत **वरण पिछले** अध्याय में किया जा चुका है।

3.5.6.1 भुट्टे से पंक्ति विधि

इस प्रजनन विधि का विकास सन् 1896 में हापकिंस ने मक्का के दाने में रासायनिक अवयवों (प्रोटीन एवं **तेल) के सुधार के** लिए किया था । इसका उपयोग मक्का में बहुत अधिक किया जाता है। वरण की प्रक्रिया इस विधि में काफी **सरल होती है और** जिसका वर्षवार संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है :–

प्रथम वर्ष – समष्टि में से 50–100 **उत्कृष्ट लक्षणप्ररूप वाले पौधों का वरण कर मुक्त परागण होने दिया जाता है। वरण किये** गए प्रत्येक पौधे के बीजों को **अलग एकत्रित किया जाता है।**

द्वितीय वर्ष – प्रत्येक वरण किये गए पौधे के बीज से 10–50 पौधों की एक–एक कतार अलग–अलग उगाई जाती है। इन संतति कतारों का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाता है और उत्कृष्ट कतारों को चुन लिया जाता है। चुने हुए कतारों में अच्छे लक्षणोंप्ररूपों वाले कई (5–10) पौधों का वरण किया जाता है। जो पौधे वरण किए गए हैं उनके बीजों को अलग–अलग एकत्रित किया जाता है।

तृतीय वर्ष – **द्वितीय वर्ष की भाँति सभी प्रक्रिया दुहराते हैं।**

इस विधि में वरण का चक्र हालाकि एक ही वर्ष में पूरा हो जाता है, **परन्तु इसमें एक खामी रह जाती है।** चूँकि पौधों को मुक्त परागण होने दिया जाता है, इसलिए वरण किये गए उत्कृष्ट संतति **में दोनों तरह के पौधों अर्थात् उत्कृष्ट** एवं निकृष्ट पौधों से परागण हो जाती है जो इस वरण की प्रभावशीलता को कम कर देता **है।**

3.5.6.1.2 भुट्टे से पंक्ति विधि के गुण :–

1. **अपेक्षाकृत बहुत हीं सरल विधि है। इस विधि के रूपान्तरण से कई प्रभावशाली विधियाँ, जैसे आवर्ती वरण का विकास हुआ है।**
2. **वरण चक्र एक ही वर्ष में पूरा हो जाता है।**
3. **यह विधि समूह विधि से ज्यादा प्रभावशाली है, क्योंकि इसमें संतति परीक्षण के आधार पर वरण किया जाता है।**

3.5.6.1.3 भुट्टे से पंक्ति विधि के दोष :–

1. **मुक्त परागण के कारण वरण की प्रभावशीलता कम हो जाती है।**
2. **समूह वरण की अपेक्षा अधिक दक्षता एवं समय की आवश्यकता होती है।**

3.5.6.2 आवर्ती वरण (Recurrent Selection)

सर्वप्रथम आवर्ती वरण का विचार हेज (Hayes) एवं गार्बर (Garber) ने 1919 में तथा ईस्ट (East) एवं जोन्स (Jones) ने 1920 में

स्वतंत्र रूप से दिया था। लेकिन आवर्ती वरण योजनाओं का विकास 1945 के बाद ही हुआ जब हल **(Hull)** ने विशिष्ट संयोजन क्षमता में सुधार हेतु आवर्ती वरण के उपयोग का सुझाव दिया । आवर्ती वरण योजनाओं का विकास संकर ओज प्रजनन को ध्यान में रखकर किया गया था। आवर्ती वरण वह विधि है जिसमें वरण किये गए पौधों की संततियों का आपस में हर संभव संकरण कराया जाता है, और संकरों के बीजों को बराबर मात्रा में मिलाकर नई समष्टि बनायी जाती है जिसमें पुनः वरण किया जाता है। मूल रूप से यह विधि पर परागित फसलों में सुधार के लिए विकसित की गई थी परन्तु वर्तमान में इसका उपयोग स्वपरागित फसलों में भी किया जाता है।

3.5.6.2.1 आवर्ती वरण मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं –

(1) सरल आवर्ती वरण (2) सामान्य संयोजन क्षमता के लिए आवर्ती वरण (3) विशिष्ट संयोजन क्षमता के लिए आवर्ती वरण, तथा (4) व्युत्क्रम आवर्ती वरण । इन सभी विधियों का मूल उद्देश्य स्रोत समष्टियों में वांछनीय जीनों एवं जीन प्ररूपों की आवृत्तियों में बढ़ोतरी करना है जिससे समष्टि के औसत मान में सुधार हो जाती है तथा विविधता बरकरार रखी जाती है।

यहाँ हम सिर्फ सरल आवर्ती वरण विधि की चर्चा करेंगे।

सरल आवर्ती वरण विधि :–

प्रथम वर्ष – उत्कृष्ट लक्षण प्ररूपों वाले कई पौधों का वरण कर उसे स्वपरागित किया जाता है। इनके बीजों को अलग–अलग एकत्रित किया जाता है। बीजों का मूल्यांकन कर अच्छे बीजों का वरण कर लिया जाता है।

द्वितीय वर्ष – विभिन्न पौधों से वरण किये गए बीजों को एकल संतति कतार में उगाई जाती है। सभी संततियों का आपस में हर संभव संयोजनों में संकरण कराया जाता है। सभी संकरों से बराबर मात्रा में बीज लेकर मिश्रित कर लिया जाता है, और यही बीज समष्टि का सुधरा रूप है। इस प्रकार, प्रथम तथा द्वितीय वर्षों की क्रियाओं को मिलाकर प्रथम वरण चक्र कहा जाता है जो आगे के वर्षों में दुहरायी जाती है।

तृतीय वर्ष – द्वितीय वर्ष में प्राप्त संकर बीजों के मिश्रण से नई पीढ़ी उगाई जाती है और इसमें प्रथम वर्ष में अपनायी गई सारी प्रक्रियाएँ दुहराई जाती है।

चौथा वर्ष – इसमें द्वितीय वर्ष में की गई सारी प्रक्रियाएँ दुहरायी जाती है। इस प्रकार चौथे वर्ष में दूसरा वरण चक्र पूरा होता है। यही प्रक्रिया दुहराकर कई वरण चक्र पूरे किये जा सकते हैं।

3.5.6.2.2 आवर्ती वरण के गुण

1. यह समष्टि में वांछनीय जीनों की आवृति को बढ़ाने के लिए प्रभावकारी विधि है। इसलिए यह समष्टि सुधार का बहुत ही आवश्यक विधि माना जाता है।
2. इस विधि में विषमयुग्मज संततियों के बीच बार–बार संकरण कराने से पुर्न–संयोजन का अवसर ज्यादा मिलता है। यह प्रतिकर्षण अवस्था वाले सहलग्नताओं को तोड़ने में सहायक होता है।
3. विषमयुग्मज पौधों की समष्टियों के बीच बार–बार संकरण से समष्टि में उच्च आनुवंशिक विविधता कायम रखने में मदद मिलता है।

3.5.6.2.3 आवर्ती वरण के दोष :–

1. यह सिर्फ समष्टि सुधार की विधि है। क्योंकि इस विधि से नया प्रभेद का विकास नहीं होता है बल्कि इसके द्वारा मिले अंतिम उत्पाद का उपयोग संकरण के लिए किया जाता है।
2. इस विधि में सारे वरण एवं संकरण कार्य किया जाता है। अतः इसमें दक्षता आवश्यक है।
3. इसमें स्वपरागण जरूरी है जिससे समष्टि में आनुवंशिक विविधता में ह्रास होता है।
4. समष्टि में प्रसरण **(Variance)** बरकरार रखना कठिन है जिससे अन्तः प्रजनन ह्रास होने की सम्भवना बनी रहती हैं। परिणामतः समष्टि के औसत मान में ह्रास हो जाती है।

सारांश

फसल की किस्म या प्रजाति को ऐसे स्थान पर उगाया जाना जहाँ वह पहले न उगायी गई हो, पादप पुरःस्थापन कहलाता है। भारत में कई फसलें जैसे मक्का, आलू, टमाटर, सोयाबीन, तम्बाकू आदि पुरःस्थापन के माध्यम से आया है। विविधता उत्पादन एवं वरण पादप प्रजनन की दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्रियाएँ हैं। फसलों में सुधार के लिए आनुवंशिक विविधता का उपयोग वरण द्वारा ही संभव हो सकता है। किसी समष्टि में से उत्कृष्ट तथा उपयोगी लक्षणों वाले पौधों को अलग कर उनके बीजों (या प्रवर्ध्यों) से अगली पीढ़ी उगाना ही वरण कहलाता है। वरण प्राकृतिक या कृत्रिम दो प्रकार को होता है।

समूह वरण पुरानी परन्तु सबसे सरल विधि है। इस विधि में एक समान तथा उत्तम लक्षण प्ररूपों वाले पौधों का वरण कर उनके बीजों को आपस में मिलाकर एक नई किस्म विकसित किया जाता है। शुद्ध वंशक्रम वरण में उत्तम लक्षणप्ररूप वाले पौधों का वरण कर उनके बीजों को अलग–अलग जमा किया जाता है, और अगली पीढ़ी में उनसे एकल पादप संततियाँ उगाया जाता है। प्रत्येक कतार एक शुद्ध वंशक्रम होता है। इनमें से सबसे उत्तम एकल पादप संतति को नई किस्म के रूप में विमोचित करते हैं।

अलग–अलग जीनप्ररूप वाले दो या दो से अधिक पौधों या विभदों के संगम को संकरण कहते हैं। संकर से प्राप्त बीजों व पौधों को संकर (एफ 1 पीढ़ी) कहते हैं। इसका प्रमुख उद्देश्य जनकों में मौजूद जीनों को एफ1 में एक साथ लाना। संकरण दो प्रकार के होते हैं – (1) आंतरप्रजातीय एवं (2) अंतरप्रजातीय ।

किसी जीव के लक्षण में आकस्मिक एवं वंशागत परिवर्त्तन को उत्परिवर्त्तन कहते हैं। प्रकृति में उत्परिवर्त्तन स्वतः होता है। यह साधारणतः अप्रभावी, हानिकारक, यादृच्छिक तथा आवर्ती होते हैं। जो उत्परिवर्त्तन किसी बाहरी कारक के उपचारण द्वारा होते हैं उन्हें प्रेरित उत्परिवर्त्तन कहते हैं। इनकी दर स्वतः उत्परिवर्त्तन से कई गुणा होती है। किसी उत्परिवर्त्तन को उपयोग से उत्परिवर्तन उत्पन्न करने को उत्परिवर्तजनन कहते हैं तथा इस प्रकार के उत्परिवर्त्तन का उपयोग फसल सुधार में करने को उत्परिवर्त्तजन प्रजनन कहते हैं।

किसी प्रजाति के गुणसूत्र संख्या में परिवर्त्तन को विषमगुणिता कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है– (1) असुगुणिता तथा (2) सुगुणिता। प्रजाति में एक या कुछ गुणसूत्रों की कमी या अधिकता को असुगुणिता कहते हैं। जबकि पूरे–के पूरे जिनोम की संख्या का दो से कम या अधिक होना सुगुणिता कहलाता है।

सुगुणिता दो प्रकार के होते हैं – (1) स्वबहुगुणित (एक ही जिनोम की दो से अधिक प्रतियाँ), तथा (2) परबहुगुणिता (एक से अधिक जिनोमों की सामान्यतः दो–दो प्रतियाँ) ।

हमारे कई फसलें, जैसे आलू, कॉफी, शकरकन्द, केला, मूँगफली आदि स्वबहुगुणित हैं। स्वत्रिगुणिता तरबूज में बीज नहीं होते हैं। परबहुगुणिता का प्रजातियों के विकास में काफी योगदान रहा है। बहुत सी मुख्य फसलें परबहुगुणिता से कई फसल, जैसे ट्रिटिकेल, रेफेनोब्रसिका आदि का विकास हुआ है।

किसी समष्टि में विभिन्न प्रजनन विधि द्वारा वांछनीय विकल्पी को एकत्रित करने को समष्टि सुधार कहते हैं। परपरागित फसलों में समष्टि सुधार बहुत ही पुरानी विधि है जिसमें समूह वरण या इसके रूपांतरित विधियों जैसे भुट्टे से पंक्ति विधि, आवर्ती वरण आदि का उपयोग किया जाता है।

प्रश्न

1. पादप पुरःस्थापन को परिभाषित कीजिए। इनके प्रकारों की स्पष्ट विवेचना करते हुए उपलब्धियों का विवरण दीजिए ।
2. शुद्ध वंशक्रम विधि तथा इनकी उपयोगिताओं का वर्णन कीजिए।
3. संकरण की परिभाषा दीजिए । इनके विभिन्न चरणों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
4. उत्परिवर्तन की परिभाषा दीजिए तथा इनके अभिलक्षणों का वर्णन कीजिए।
5. परबहुगुणिता क्या है ? इनका पादप प्रजनन में उपयोगों का वर्णन कीजिए।

*****

3.6 फसल सुधार की नई विधियाँ: पादप जैव प्रौद्योगिकी (Plant Biotechnology) और आनुवंशिक अभियंत्रण (Genetic Engineering)

3.6.1 पादप जैव प्रौद्योगिकी :– परिचय

बायोटेक्नोलॉजी शब्द बायोलॉजी एवं टेक्नोलॉजी शब्दों को जोड़कर बना है। जैविक कारकों, जैसे सूक्ष्मजीवों, कोशिकाओं और उनके अवयवों के नियंत्रित उपयोग से मानव के लिए उपयोग उत्पादों या सेवाओं के उत्पादन को बायोटेक्नोलॉजी कहते हैं।

पादप बायोटेक्नोलॉजी में पादप ऊतक संवर्धन की आधारभूत भूमिका है, इसे अक्सर पात्रे तकनीक भी कहा जाता है। यहाँ हम पात्रे तकनीक तथा उसकी पादप प्रजनन में उपयेगिता का संक्षेप में अध्ययन करेंगे।

3.6.2 पात्रे तकनीक (in vitro techniques) का अर्थ है पौधों के अंगों, ऊतकों व कोशिकाओं को परखनलियों के कृत्रिम पोष पदार्थों पर सवंर्धित करना। इस तकनीक का विकास कभी पादप कोशिकाओं की पूर्णशक्यता प्रमाणित करने के लिए किया गया था। किसी भी पादप कोशिका के वे सभी विकास, जो कि जाइगोट में होते हैं, अर्थात् भ्रूण का विकास करने की क्षमता, को पूर्णशक्यता कहते हैं।

पात्रे तकनीक का वर्गीकरण (Classification of in Vitro Techniques)

पात्रे तकनीक को कर्तोतकों (explants) एवं पात्रे परिवर्धन के आधार पर निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया जाता है। (1) भ्रूण संवर्धन, (2) मेरिस्टेम संवर्धन, (3) परागकोश संवर्धन, (4) ऊतक संवर्धन

3.6.2.1 भ्रूण संवर्धन (Embryo Culture)

परिवर्धित (developing) हो रहे बीज में एक तरूण भ्रूण (young embryo) को निकालकर पोष पदार्थ (medium) पर सवंर्धित (culture) करने को भ्रूण संवर्धन (embryo culture) कहते हैं।

3.6.2.1.1 पादप प्रजनन में अनुप्रयोग

1. दुरस्थ संकरों के भ्रूणों का उद्धार
2. अन्तरास्पेसीज संकरण से अगुणित पौधों की प्राप्ति
3. **आर्किड प्रवर्धन :** कई आर्किडों के परिपक्व बीजों (mature seeds) में भ्रूण पूर्ण विकसित नहीं होते हैं तथा अर्किडों का प्रवधन काफी कठिन, होता है। आर्किडों के भ्रूणों का उपयुक्त पोषपदार्थों पर संवर्धन करके आसानी से पौधे तैयार किये जाते हैं।
4. **प्रजनन की अवधि घटाना :** बीजों के भ्रूणों के पात्रे सवंर्धित किया जाए तो उनसे सीधे पौधे उत्पन्न होते हैं तथा इससे 10–20 दिनों की बचत की जाती हैं।
5. **प्रसुप्ति निवारण :** कई पौधों,पैसे आइरिस, प्रूनस, टैक्सस आदि, के भ्रूणपोश में कुछ जैवरसायनों की उपस्थिति के कारण इनके बीज वर्षों तक प्रसुप्त रहते हैं। इन पौधों में भ्रूण संवर्धन द्वारा प्रसुप्ति (dormancy) निवारण किया जाता है।
6. **लैंगिक संततियों की प्राप्ति :** कुछ फसलों, जैसे बंडा, अरवी आदि, के बीज प्रकृति में कभी अंकुरित (germinate) नहीं होते हैं। भ्रूण संवर्धन द्वारा इनके भ्रूणों से पौधे प्राप्त किये जा सकते हैं।

3.6.2.2 मेरिस्टेम कल्चर (Meristem Culture)

शीर्षस्थ या कक्षस्थ मेरिस्टेमों, विशेषकर प्ररोहाग्र मेरिस्टेमों (shoot apical meristems), के संवर्धन को मेरिस्टेम संवर्धन (meristem culture) कहतें है।

3.6.2.2.1 Application (उपयोग)

1. **कायिक प्रवर्धन (Vegetative Propagation) :** पादप ऊतक कल्चर द्वारा किसी स्पेसीज/किस्म/विभेद की बड़ी संख्या में

क्लोनीय संततियाँ उत्पादित करने को सूक्ष्मप्रवर्धन कहते है। मेरिस्टेम संवर्धन द्वारा गुणन दर 52 सप्ताह में केवल 16 गुना 9×10^{14} गुना तक होती है।

2. वाइरस–मुक्त पौधों की प्राप्ति
3. क्लोनीय फसलों का पादप पुरःस्थापन
4. जननद्रव्य संरक्षण

3.6.2.3 परागकोष कल्चर (Anther Clture)

परागकोशों या विलगित परागकणों के पात्रे संवर्धन से अगुणित पौधों या अगुणित कैलस के उत्पादन को परागकोश संवर्धन कहते है।

3.6.2.3.1 उपयोग :

ऊतक संवर्धन का पादप प्रजनन में व्यापक उपयोग है जिनका संक्षिप्त उल्लेख नीचे दिया गया है।

1. **अगुणित पौधों का उत्पादन**
2. **युग्मक क्लोनीय विविधता** परागकणों से उत्पन्न कैलस से पुनर्जनित अगुणित पौधों में काफी आनुवंशिक विविधता पाई जाती है इसे युग्मक क्लोनीय विविधता कहते है।
3. **उत्परिवर्ती विलगन**
4. **कायिक क्लोनीय विविधता** ऊतक संवर्धो से पुनर्जनित पौधों में उपस्थित आनुवंशिक विविधता को कायिक क्लोनीय विविधता कहते है।
5. **रोग रोधी उत्परिवर्ती**
6. **प्रतिबल सहिष्णु एवं अन्य उत्परिवर्ती**
7. **क्लोनीय प्रवर्धन**
8. **कायिक संकरण**
9. **जननद्रव्य संरक्षण**
10. **आनुवंशिक रूपान्तरण**

3.6.3 आनुवंशिक इंजीनियरी :– परिचय

विभिन्न स्रोतों से प्राप्त डी एन ए (DNA) के उपयुक्त खंडों को जोड़कर जो डी एन ए (DNA) अणु बनाया जाता है, उसे पुनर्योगज DNA (recombinant DNA), तथा इस DNA अणु के निर्माण की प्रक्रिया को पुनर्योगज DNA टेक्नोलॉजी (recombinant DNA technology) कहते हैं।

किसी भी जीव में, लैंगिक प्रक्रिया के अलावा सीधे ही जीनके स्थानांतरण को आनुवंशिक इंजीनियरी कहते है। उदाहरणार्थ, यूकैरियोंटों (eukaryotes) की कोशिकाओं में विदेशी (foreign) DNA का प्रवेश कराने पर विदेशी DNA में उपस्थित जीनों का यूकेरियोंटो के क्रोमोसोमों (chromosomes) में स्थानांतरण हो जाता है। इस स्थानान्तरण की आण्विक क्रियाविधि (molecular mechanism) ठीक से ज्ञात नहीं है। जिन पौधों में इस प्रकिया से जीन स्थानांतरित किया गया होता है, उन्हे पराजीनी (transgenic) पौधे कहते है, तथा जिस जीन का स्थानांतरण किया जाता है, उसे पराजीन (transgene) कहते है।

3.6.3.1 आनुवंशिक इंजीनियरी की प्रकिया (Proccedure of Genetic Engineering)

आनुवंशिक इंजीरियरी के निम्नलिखित प्रमुख चरण होते है।

1. वांछित जीन की पहचान व उसका विलगन
2. उपयुक्त वाहक का चयन तथा वाहक में जीन का समाकलन

3. जीनयुक्त वाहक का पौधों की कोशिकाओं में समावेश
4. वांछित जीन का पौधों के क्रोमोसोमों में समाकलन
5. स्थानांतरित किए गए जीन की पादप कोशिकाओं में अभिव्यक्ति
6. स्थानांतरित किए गए जीन वाली पादप–कोशिकाओं का वरण एवं उनसे पूर्ण पादपकों का पुनर्जनन
7. इन पौधें की अगली पीढ़ीयों में स्थानांतरित जीन का सामान्य संप्रेषण एवं वंशागति।

3.6.3.2 आनुवंशिक ईजीनियरी का अनुप्रयोग:

आनुवंशिक इंजीनियरी के माध्यम से ऐसे जीनो का स्थानांतरण किया जा सकता है जो किसी अन्य तरीको से संभव नहीं है। इस तकनीकि से अन्य पादप स्पेसीज के अतिरिकत कवकों बैक्टेरिया वाइरसों एवं जन्तुओं एवं जन्तुओ के जीन का पोधे में स्थानांतरित किये गये है। जिनका उपयोग कीट रोधिता, वाइरस रोधिता, नवीन जैवरसायनों के उत्पादन के लिए, खाद्य टीके बनाने के लिए तथा पराजीवी पौधे के विकास के लिए किया जाता है।

सारांश

पादप वायोटेक्नोलाजीय तकनीको का उपयोग पौधो के आनुवंशिक सुधार या अनके निष्पादन में सुधार आदि के लिए किया जाता है। इसमे पादप उत्तक संवंधन को विशेष भूमिका है।पात्रे तकनीक में पौधों की कोशिकाओं या अंगों को कृत्रिम पोशपदार्थों पर परखनलियों में सवंर्धित करते हैं। इस तकनीक को ऊतक संवर्धन भी कहते हैं।

पात्रे तकनीक के मुख्य रूप से निम्नलिखित चार प्रकार होते है: (i) भ्रूण संवर्धन (ii) मेरिस्टेम संवर्धन (iii) पराग संवर्धन या परागकोश संवर्धन तथा (iv) ऊतक संवर्धन

भ्रूण संवर्धन में तरूण भ्रूणों को बीजों से निकालकर उनका पात्रे संवर्धन करते हैं इसका उपयोग दुरस्थ संकर पौधों की प्राप्ती कुछ दूरस्थ संकरणों से अगुणित पौधों की प्रापति, आर्किडों के प्रवर्धन, प्रजनन चक्र की अवधि को कम करने तथा कुछ स्पेसीजों से प्रसुप्ति निवारण के लिए किया जाता है।

मेरिस्टेम संवर्धन में प्ररोहाग्र मेरिस्टेम अथवा कक्षस्थ कलिका के मेरिस्टेम का पात्रे संवर्धन करके पौधे प्राप्त किये जाते है। इस विधि का उपयोग पौधों के क्लोनीय प्रवर्धन तथा वाइरस–मुक्त पौधे पाने के लिए किया जाता है। जननद्रव्यों के आदान–प्रदान, विशेष रूप से, आयात–निर्यात में इसकी भूमिका दिनों–दिन महत्वपूर्ण होती जा रही है।

परागकोशों या परागकणों के पात्रे संवर्धन का पराग संवर्धन कहा जाता है। पराग संवर्धन का उपयोग अगुणित (haploid) पौधों की प्राप्ति के लिए किया जाता है। इस विधि का उपयोग धान एवं तंबाकू में नई किस्मों के विकास में हो रहा है, धान की एक दर्जन से अधिक किस्में विकसित की जा चूकी हैं।

पात्रे तकनीक का कुछ विशेष स्थितियों में उपयोग हो रहा है। इनके विस्तृत उपयोग में निम्नलिखित दो बाधाएँ आती है: पहले, बहुत–सी महत्वपूर्ण फसलों में उच्च आवृत्ति (high frequency) में पुनर्जनन नहीं होता है, एवं दूसरी, इस तकनीक के लिए अधिक कुशलता एवं बहुत ही अच्छी प्रयोगशाला की आवश्यकता होती है।

आनुवंशिक इंजीनियरी शब्द का उपयोग पुनर्योगज DNA अणुओं के उत्पादन, उनके ई. कोली में प्रवर्धन तथा बाद में उनके किसी अन्य जीव में स्थानांतरण सभी के लिए किया जाता है। किसी भी जीव में, लैंगिक प्रक्रिया के अलावा सीधे ही जीनके स्थानांतरण को आनुवंशिक इंजीनियरी कहते है। आनुवंशिक ईजीनियरी का अनुप्रयोग कीट रोधिता पाराजीनी पौधे, वाइरस रोधिता पाराजीनी पौधे, नवीन जैवरसायनों का उत्पादन एवं खाध टीके बनाने मे किया जाता है।

प्रश्न

1. पात्रे तकनीक का वर्गीकरण कीजिए। इनमें से किन्हीं दो वर्गों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये तथा इनकी पादप प्रजन में उपयोगिता की समीक्षा कीजिए?
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए : (1) परागकोष कल्चर (2) मेरिस्टेम कल्चर (3) भ्रूण संवर्धन (4) खाद्य टीके (5) कीट रोधी पराजीन पौधे (6) वाइरस रोधी पराजीनी पौधे।
3. आनुवंशिक इंजीनियरी की प्रक्रिया का संक्षिप्त वर्णन कीजिए तथा इसके विभिन्न अनुप्रयोगों को स्पष्ट कीजिए।

3.7 पादप आनुवंशिक संसाधनः– उनका संग्रह, संरक्षण तथा उपयोग

3.7.1 पादप आनुवांशिक संसाधनः– परिचय

चित्र–1 मक्का के जंगली संबंधी (Teosinte)

पादप प्रजनन का उद्देश्य फसलों के जीनप्ररूपों में ऐसे रूपांतरण करना है, जिससे वे मनुष्य के लिए और अधिक उपयोगी हो सकें। ऐसे तभी किया जा सकता है, जब जीनप्ररूप में मनचाहे परिवर्तन के लिए वांछित जीन पादप प्रजनकों को उपलब्ध हों। इस कारण, पादप प्रजनन कार्यक्रमों में वांछनीय जीनों/विकल्पियों की लगभग हमेशा ही जरूरत पड़ती रहती है। विभिन्न जीनों के वांछनीय या उत्कृष्ट विकल्पी संबंधित फसलों की विभिन्न किस्मों, विभेदों, लाइनों या समष्टियों में उपस्थित होते हैं। किसी स्पेसीज में उपस्थित सभी जीनो के सभी विकल्पियो के समूह को उस स्पेसीज का जननद्रव्य (germplasm) कहा जाता है। जननद्रव्य को आनुवंशिक संसाधन (genetic resources) भी कहा जाता है। जननद्रव्य को निमनलिखित प्रकार की लाइनों में विभाजित किया जा सकता है: (1) देसी किस्में (2) पुरानी किस्में (3) खेती के लिए उपयोग की जा रही किस्में (4) प्रजनन लाइने (5) जंगली प्ररूप एवं जंगली संबंधी।

3.7.2 पादप आनुवांशिक संसाधन : संग्रह

चित्र–2 राष्ट्रीय पादप आनुवंशिक संसाधन ब्यूरो, नई दिल्ली

किसी भी फसल के आनुवंशिक संसाधन संग्रह में उस फसल की संबंधित जंगली स्पेसीजों के जननद्रव्यों का संग्रह अनिवार्य है क्योंकि (1) फसलों का उद्गम जंगली स्पेसीजों से ही हुआ है, तथा (2) फसलों के सुधार में संबंधित जगंली स्पेसीजों का अतुलनीय योगदान रहा है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यदि जंगली स्पेसीजों के जीनों का उपयोग न किया गया होता, तो हमारी अधिकांश फसलें या तो रोगों और कीटों से नष्ट हो गई होतीं, अथवा उनकी उपज क्षमता बहुत ही कम होती।

किसी भी फसल एवं उसके जंगली संबंधियों की बहुत–सी किस्मों, विभेदों या जीनप्ररूपों के संग्रह को उस फसल का जननद्रव्य संग्रह या जीन बैंक कहते हैं। भारतवर्ष में जननद्रव्य को एकत्रित एवं अनुरक्षित करना राष्ट्रीय पादप आनुवंशिक ब्यूरो (NBPGR), की जिम्मेदारी है। ब्यूरो के पास ज्वार, बाजार, गेहूँ, जौ, जई, धान, मक्का, ऐमरैंथ (Amaranth), ब्रैसिका (Brassica) आदि कृषि एवं उद्यानकृषि (horticulture) फसलों के विशाल जननद्रव्य संग्रह है, जो कि विभिन्न स्थानों पर अनुरक्षित किए जाते हैं। NBPGR मुख्यालय के बीज बैंक में जननद्रव्य को आधार संग्रह के रूप में लंबी अवधि के लिए अनुरक्षित किया जाता है। लेकिन सक्रिय संग्रहों (active collection) को मध्यम अवधि के लिए ब्यूरो मुख्यालय तथा इसके क्षेत्रीय स्टेशनों पर अनुरक्षित करते हैं।

भारतीय राष्ट्रीय जीनबैंक की स्थापना 1997 में की गई थी। वर्ष 2006 के अंत तक इस जीनबैंक में 3,39,194 प्रविष्टियाँ (accessions)–180°c पर लंबी अवधि के लिए अनुरक्षित थीं। ब्यूरो के अतिरिक्त, अन्य कई संस्थानों में भी जननद्रव्य संग्रह एवं अनुरक्षित किए जाते हैं।

जननद्रव्य संरक्षण में की जाने वाली क्रियाओं को निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है: (1) संग्रह, (2) संरक्षण, (3) मूल्यांकन, (4) सूचीबद्धन, यानि आँकड़ा भंडारण आदि, (5) गुणन एवं वितरण तथा (6) उपयोग।

जननद्रव्य एकत्रित करना : किसी जननद्रव्य संग्रह (germplasm collection) में उपस्थित विभिन्न प्रविष्टियों (entries) को प्राप्त करने या इकट्ठा करने की प्रक्रिया को जननद्रव्य एकत्रित करना कहा जाता है। जननद्रव्य एकत्रित करने के दो मुख्य तरीके हैं: (1) अन्वेषण एवं संग्रह (exploration and collection), तथा (2) अन्य संस्थाओं/संस्थानों, व्यक्तियों, कंपनियों आदि से प्राप्त करना ?

अन्वेषण एवं संग्रह : जननद्रव्य एकत्रित करने के उद्देश्य से विभिन्न क्षेत्रों में जो यात्राएँ की जाती हैं, उन्हें अन्वेषण कहा जाता है। अन्वेषण के दौरान फसलों के कृष्ट प्ररूपों, देशी किस्मों, मुक्त–परागित किस्मों, जंगली प्ररूपों, एवं जंगली संबंधियों आदि का संग्रह किया जाता है विभिन्न जननद्रव्य संग्रहों में उपस्थित सभी प्रविष्टियों का प्राथमिक स्रोत अन्वेषण ही होता है, अर्थात् वे आरंभ में अन्वेषण से ही प्राप्त की गई होती हैं।

संग्रह की प्राथमिकताएं : अन्वेषण के दौरान किन स्पेसीजों का जननद्रव्य संग्रह करना है, यह मूल रूप से निम्नलिखित दो बातों पर निर्भर होगा: (1) पादप प्रजननकों की आवश्यकताएँ, एवं (2) विभिन्न स्पेसीजों में आनुवंशिक अपरदन का स्तर। पादप प्रजनकों की आवश्यकताएँ संबंधित देश पर निर्भर होंगी, जबकि आनुवंशिक अपरदन के आधार पर प्राथमिकताओं का निर्धारण FAO (खाद्य एवं कृषि संगठन) द्वारा किया गया है।

प्रतिचयन प्रक्रिया : प्रतिचयन स्थलों से पौधों का संग्रह या तो यादृच्छिक होता है अथवा यह वरणात्मक होता है। यादृच्छिक प्रतिचयन में प्रतिदर्षों का संग्रह उनके लक्षणों में भिन्नता को ध्यान में रखकर नहीं किया जाता है। लेकिन वरणात्मक प्रतिचयन में भिन्न–भिन्न प्ररूपों का संग्रह किया जात है। ज्यादातर उपरोक्त दोनों प्रक्रियाओं के संयोजन (combination) का उपयोग किया जाता है।

प्रतिचयन (sampling) का उद्देश्य प्रतिदर्षों की कम से कम संख्या एवं छोटे से छोटे आकार में अधिक से अधिक विविधता एकत्रित करना होता है। इसके लिए अधिक से अधिक संख्या में एक–दूसरे से भिन्न प्रतिदर्षों का चयन करते हैं, और एक ही प्रविष्टि के एकसमान दूसरी प्रविष्टि को शामिल करने की संभावना कम से कम रखते हैं।

प्रतिचयन का आमाप (Sample Size) : एक सुझाव के अनुसार, एक प्रतिचयन स्थल से 50–100 पौधों का संग्रह करना चाहिए। इनमें से प्रत्येक पौधे से कम से कम 50 बीज एकत्रित करना चाहिए। इस प्रकार, प्रत्येक प्रतिदर्ष स्थल से 2,500 से 5,000 बीज एकत्रित करते हैं।

प्रक्षेत्र अभिलेख : जननद्रव्य संग्रह के दौरान पर्याप्त जानकारी एकत्रित करनी चाहिए। इस उपयोग के लए निम्नतम आँकड़ा पत्र विकसित किए गए हैं। इन निम्नतम आँकड़ा पत्रों को अपनी आवश्यकतानुसार उपयुक्त परिवर्तन करने के बाद उपयोग में लाना चाहिए।

3.7.3 पादप आनुवांशिक संसाधन : संरक्षण

जननद्रव्य को ऐसी दशा में रखना, जिससे उसके नष्ट होने की निम्नतम आशंका हो, तथा इसकी प्रविष्टियों को या तो सीधे खेत में उगाया जा सके अथवा खेत में उगाने के लिए सरलतापूर्वक तैयार किया जा सके, जननद्रव्य संरक्षण कहा जाता है। जननद्रव्य संरक्षण की निम्नलिखित दो युक्तियाँ हैं: (1) स्वस्थाने (***in situ***), एवं (2) बाह्यस्थाने (***ex situ***), जननद्रव्य संरक्षण।

3.7.3.1 स्वस्थान संरक्षण

जब जननद्रव्य को उसी स्थान, जिसमें वह प्राकृतिक रूप से उगता है, संरक्षित किया जाता है, तो इसे स्वस्थाने जननद्रव्य संरक्षण कहते हैं। ऐसे सुरक्षित क्षेत्रों को प्राकृतिक पार्क, जीवमंडल निचय (biosphere reserve) या जीन सैंक्चुअरी कहा जाता है।

3.7.3.2 बाह्य स्थाने संरक्षण

जनन द्रव्य को इसके प्राकृतिक आवास से दूर संरक्षित करना बाह्य स्थाने संरक्षण कहलाता है। बाह्य स्थाने संरक्षण निम्नलिखत 5 प्रकार से किया जा सकता है: (1) बीज बैंक (seed bank), (2) पादप या क्षेत्र बैंक (plant or field bank), (3) प्ररोहाग्र बैंक (shoot-tip bank), (4) कोशिका एवं अंग बैंक (cell and organ bank), एवं (5) DNA बैंक।

3.7.4 पादप आनुवांशिक संसाधन : उपयोग

जननद्रव्य का पादप प्रजनन में निम्नलिखित चार प्रकार से उपयोग किया जा सकता है: (1) नई फसलें, (2) नई किस्म के रूप में, (3) वरण के लिए एवं (4) संकरण (hybridization) कार्यक्रमों में।

जननद्रव्य विनिमय (*Germplasm Exchange*)

जननद्रव्य का आयात एवं निर्यात **जननद्रव्य विनिमय (germplasm exchange)** कहलाता है। यह प्रक्रिया पादप पुरःस्थान (plant introduction) के नाम से जानी जाती है।

सारांश

किसी स्पेसीज में उपस्थित सभी जीनों के सभी विकल्पियो के समूह को उस स्पेसीज का जननद्रव्य कहा जाता है। जननद्रव्य को आनुंवशिक संसाधन (genetic resources) भी कहा जाता है

कृषि फसलों के पुरःस्थापित जननद्रव्य का संग्रह, सूचीबद्ध, मूल्यांकन, गुणन एवं वितरण ब्यूरो द्वारा किया जात है। अच्छे जननद्रव्य को सीधे किस्में विकसित करते हैं, या फिर उन्हें संकरण (hybridization) में उपयोग करते हैं।

पादप पुरःस्थापना में किसी किस्म या स्पेसीज को ऐसे स्थान पर ले जाकर उगाया जाता है जहाँ वह इसके पहले न उगाई जाती रही हो। कई फसलें भारत में पुरःस्थापना से आई हैं, जैसे मक्का, आलू, टमाटर, तम्बाकू, सोयाबीन आदि। इस समय सभी पादप पुरःस्थापना राष्ट्रीय पादप आनुवंशिक संसाधन ब्यूरो, नई दिल्ली के माध्यम से होते हैं।

पादप पुरःस्थापना के निम्नलिखित गुण होते हैं: (1) इससे नई फसलों, (2) नई किस्मों एवं (3) नए जननद्रव्यों की प्राप्ति होती है। यह (4) काफी सस्ती, (5) कम समय लेने वाली एवं कभी–कभी (6) सर्वोतम विधि होती है।

प्रश्न

1. जननद्रव्य की परिभाषा दीजिए। जननद्रव्य के विभिन्न घटकों का संक्षिप्त परिचय दीजिए?
2. पादप आनुवंशिक संसाधन के उपयोग की उदाहरण सहित व्याख्या करें?
3. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए:

   (1) आनुवंशिक संसाधन

   (2) बीज बैंक

   (3) जननद्रव्य संरक्षण

*****

3.8 बीज : गठन, वर्गीकरण तथा उनका गुणन

3.8.1. बीज

कृषि उत्पादन में उन्नत किस्मों के शुद्ध एवं स्वस्थ बीज का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृषि क्षेत्र में बीज का तात्पर्य किसी भी पौधे के किसी भाग से सम्बर्धन करके नया पौधा या बीज बनाना है।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व बीज का सीमित उत्पादन निजी कम्पनियों एंवं बीज व्यापारियों द्वारा किया जाता था। सरकारी क्षेत्र का भी योगदान अल्प मात्रा में था। राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना 1963 में की गई । भारतीय बीज अधिनियम वर्ष 1966 में पारित किया गया । राज्य बीज फार्म परियोजना शुरू की गई । राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना से बीज उद्योग का महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। कालक्रम में बड़े निजी बीज कम्पनियों आती गई तथा सरकारी क्षेत्र का भी काफी विकास हुआ जिससे भारत में बीज उत्पादन का सराहनीय विकास हुआ है।

3.8.1.1 बीज की महत्ता

कृषि के क्षेत्र में उन्नत बीजों का योगदान 40 प्रतिशत तक उत्पादन बढ़ाने में रहा है। वर्त्तमान में बीज उद्योग बहुत बड़ा क्षेत्र है जहाँ विभिन्न कार्यक्रम विभिन्न ईकाइयों यथा बीज प्रौधोगिकी शोध, बीज उत्पादन, बीज प्रसंस्करण, भण्डारण तथा बीजों का विपणन द्वारा किया जाता है।

3.8.2. बीज श्रेणियाँ एवं उनका गुणन

उन्नत बीज उत्पादन एक सतत् तथा चरणबद्ध प्रक्रिया होती है। भारत में बीजों को विभिन्न चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है :–

(क) मूलभूत या नाभिकीय बीज (ख) प्रजनक बीज (ग) आधार बीज तथा (घ) प्रमाणित बीज

(क) नाभिकीय बीज : बीज की आरंभिक या पहली श्रेणी होती है और बीजों की अन्य श्रेणियों को इसके क्रमशः गुणन से प्राप्त करते हैं। नाभिकीय बीज का उत्पादन संबंधित किस्म के प्रजनक अथवा उस फसल के किसी अन्य मान्यताप्राप्त प्रजनक द्वारा किया जाता है । इसकी भौतिक एवं आनुवंशिक शुद्धता शत–प्रतिशत होती है।

(ख) प्रजनक बीज : प्रजनक बीज नाभिकीय बीज की संतति होता है और आधार बीज का जनक होता है। किसी भी किस्म का प्रजनक बीज उस किस्म को विकसित करने वाले प्रजनक द्वारा अथवा किसी अन्य संस्थान, जिसे इसके लिए अधिकृत किया गया हो, द्वारा उत्पादित किया जाता है। प्रजनक बीज की आनुवंशिक शुद्धता शत–प्रतिशत होती है, जिससे आधार बीज एवं प्रमाणित बीज की शुद्धता भी निर्धारित मानकों के अनुरूप हो ।

(ग) आधार बीज : आधार बीज प्रजनक बीज के गुणन से प्राप्त होता है। इसका उत्पादन राष्ट्रीय बीज निगम या निगमों के निरीक्षण में कृषि विश्वविद्यालय के फार्मों पर, सरकारी प्रक्षत्रों तथा प्रगतिशील किसानों के खेतों पर किया जाता है। इसकी आनुवंशिक शुद्धता लगभग शत–प्रतिशत होती है। आधार बीज का प्रमाणीकरण किया जाता है, अतः इसे प्रायः प्रमाणित अधार बीज भी कहा जाता है। आधार बीज को दो उपश्रेणियाँ होती है (1) आधार बीज चरण–1 (2) आधार बीज चरण–2 । आधार बीज चरण–1 प्रजनक बीज के गुणन से प्राप्त किया जाता है, जबकि आधार बीज चरण–2 आधार बीज चरण–1 की संतति होती है।

(घ) प्रमाणित बीज : प्रमाणित बीज का उत्पादन, आधार बीज के गुणन द्वारा होता है। इसका उत्पादन राज्य बीज निगम के निरीक्षण में प्रगतिशील किसानों के खेतों पर होता है। इसकी गुणवत्ता का प्रमाणीकरण राज्य बीज प्रमाणीकरण एजेंसी द्वारा किया जाता है। इसलिए इसे प्रमाणित बीज कहते हैं। बीज की यही श्रेणी किसानों को खेती के लिए उपलब्ध होती है।

3.8.3. भारतीय बीज अधिनियम (1966)

भारतीय बीज अधिनियम (1966) 2 अक्टूबर, 1969 से लागू है। इसका उद्देश्य भारत वर्ष में बेचे जाने वाले बीज की गुणवत्ता को अनिवार्य चिह्न एवं एच्छिक प्रमाणीकरण के द्वारा नियंत्रित करना है।

3.8.3.1. अनिवार्य चिह्नन

किसी अधिसूचित किस्म का बीज विक्रेता को निम्नलिखित बातें सुनिश्चित करनी होगी ।

(क) बीज के अंकुरण एवं उसकी शुद्धता का स्तर निम्नतम सीमाओं के अनुरूप होना चाहिए ।

(ख) बीज पात्र निर्धारित स्वरूप में चिह्नित किया गया है।

(ग) बीज पात्र लगे चिह्न (label) में दिया गया विवरण इस पात्र में मौजूद बीज की वास्तविक दशा दर्शाता है।

3.8.3.2. ऐच्छिक प्रमाणीकरण (voluntary certification)

जो भी बीज बेचा जा रहा है उसे सम्बन्धित राज्य बीज प्रमाणीकरण एजेन्सी द्वारा प्रमाणित किया जाता है। किसी अधिसूचित किस्म का प्रमाणित बीज उत्पादन करने के लिए सम्बन्धित राज्य बीज प्रमाणीकरण एजेंसी को आवेदन देना होता है। इसके बाद यह एजेंसी आवश्यक प्रक्षेत्र निरीक्षण एवं बीज परीक्षण कराती है। निरीक्षणों एवं परीक्षणों के परिणाम संतोषजनक रहे, तो बीज प्रमाणीकरण का टैग (tag) बीज उत्पादक को दिया जाता है।

3.8.4. प्रमाणित बीज की आवश्यक गुणवत्ता

किसी अधिसूचित किस्म के बीज के प्रमाणीकरण के लिए उसके बीज में निम्नलिखित गुणवत्ता आदि का होना अनिवार्य है (सारणी–1)

3.8.4.1. अधिसूचना

फसलों के किसी भी किस्म के बीज का प्रमाणीकरण हेतु उस किस्म का केन्द्रीय या राज्य किस्म विमोचन समिति द्वारा विमोचित होना तथा भारत सरकार द्वारा अधिसूचित होना अनिवार्य है।

3.8.4.2. आनुवंशिक शुद्धता

किसी किस्म के बीज में उसी की अन्य किस्मों तथा अन्य फसलों के बीजों के अनुपस्थित होने को आनुवंशिक शुद्धता कहते हैं।

3.8.4.3. भौतिक शुद्धता

बीज का निर्जीव पदार्थों, जैसे– भूसा, कंकड़, मिट्टी के टुकड़े आदि तथा दोषपूर्ण बीजों (टूटे, सिकुड़े रोग या कीट युक्त) से मुक्त होना भौतिक शुद्धता है। बीज में निर्जीव पदार्थों की मात्रा 1–2 प्रतिशत तक मान्य है।

3.8.4.4. अंकुरण

फसल उगाने के लिए किसी बीज की उपयोगिता उसकी अंकुरण क्षमता पर ही निर्भर होती है।

3.8.4.5. खरपतवारों के बीज की अनुपस्थिति

प्रमाणित बीज को खरपतवारों के बीज से मुक्त होना चाहिए। बीज अनिष्टकारी खरपतवारों के बीजों से मुक्त होना अनिवार्य है।

3.8.4.6. नमी अंश

बीजों में अनुकूलतम नमी होनी चाहिए। नमी की अनुकूलतम मात्रा 8 प्रतिशत टमाटर या सरसों से 15 प्रतिशत धान में हो सकती है (सारणी–1) अधिक नमी रहने पर बीज शीघ्र खराब हो जाते हैं तथा उनमें फफूंद, कीड़े आदि का शीघ्र आक्रमण हो जाता है।

3.8.4.7. रोग मुक्ति

प्रमाणीकरण के लिए बीज का रोग मुक्त होना अनिवार्य है अन्यथा रोग युक्त बीज से उगाई गयी फसल में रोग का तीव्र प्रकोप या महामारी होने की सम्भावना है।

3.8.5. प्रमाणित बीज उत्पादन

प्रमाणित बीज का उत्पादन निम्नलिखित तीन चरणों में किया जाता है

(1) बीज उत्पादन, (2) बीज संसाधन, (3) बीज प्रमाणीकरण

3.8.5.1. बीज उत्पादन

बीज उत्पादन के लिए पार्थक्य एवं अच्छी फसल उगाना प्रमुख बातें है।

3.8.5.1.1 पार्थक्य :

शुद्ध बीज उत्पादन के लिए फसल को उसी फसल की अन्य किस्मों से कम–से–कम एक निश्चित दूरी पर उगाना चाहिए (सारणी–1)। इस दूरी को पार्थक्य दूरी या पार्थक्य कहते हैं।

3.8.5.1.2 फसल उगाना :

बीज के लिए उगाई गई फसल स्वस्थ एवं ओजपूर्ण होनी चाहिए, जिससे भरपूर मात्रा में उत्तम गुणवत्ता वाले स्वस्थ एवं पुष्ट बीजों का उत्पादन हो सके। इसके लिए समतल अच्छे जल निकास वाली उपजाउ खेत जो अनिष्टकारी (abnoxious) खरपतवारों से मुक्त हो, चुनाव करनी चाहिए ।

फसल के उचित बढ़वार के लिए संस्तुत उर्वरक की मात्रा व्यवहार करना चाहिए । समय समय पर सिंचाई करनी चाहिए । फसल रोग, कीट, व्याधि, खरपतवारों से मुक्त होनी चाहिए। बीज की फसल में से अवांछित पौधों (rogue) को समय समय पर निकालते रहना चाहिए।

बीज की फसल की कटाई व मड़ाई सावधानी पूर्वक करना चाहिए, जिससे अन्य किस्मों या अन्य फसलों के बीजों का मिश्रण न हो सके। इसकी मड़ाई पक्के फर्श पर करने से निर्जीव पदार्थों से संदूषण (contamination) होने की सम्भावना कम हो जाती है। मड़ाई के समय बीज में अनुकूल नमी रहने पर कम से कम क्षति होती है।

3.8.5.2 बीज संसाधन

मड़ाई के बाद बीज का संसाधन के लिए उसे सुखाना, सफाई एवं श्रेणीकरण, परीक्षण, उपचारण, तथा बोड़ी बन्दी व चिह्नन किया जाता है।

3.8.5.2.1 सुखाना :

बीज संसाधन व भण्डारण के लिए अनुकूल नमी (सारणी–1) का होना अनिवार्य है। मड़ाई के बाद बीजों में आवश्यकता से अधिक नमी होती है। अतः उसे सुखाना आवश्यक है।

सारणी – 1

प्रमुख फसलों के बीज प्रमाणीकरण हेतु आवश्यक भारतीय निम्नतम गुणवत्ता

गुणवत्ता	गेहूँ, जौ, धान, जई		संकर मक्का		संकुल मक्का		ज्वार संकर		ज्वार संकुल		बाजरा		सरसों		कपास	
	आ. बी.	प्र. बी.	आ. बी.	प्र. बी.	आ. बी.	प्र. बी.	आ. बी.	प्र. बी.	आ. बी.	प्र. बी.	आ. बी.	प्र. बी.	आ. बी.	प्र. बी.	आ. बी.	प्र. बी.
(क) प्रक्षेत्र																
गुणवत्ता पार्थक्य दूरी (मी.)	3	3	–	200	400	400	300	200	200	200	1000	200	–	–	50	50
(ख) बीज																
गुणवत्ता शुद्ध बीज (न्यूनतम%)	98	98	–	98	98	98	98	98	98	98	98	98	97	98	98	98
निर्जीव पदार्थ (अधिकतम%)	2	2	–	2	2	2	2	2	2	2	2	2	3	3	2	2
अन्य फसलों के (अधिकतम / कि. ग्रा.) बीज	10	20	–	1	5	10	5	10	5	10	10	20	10	20	5	10
खरपतवार बीज (अधिकतम / कि. ग्रा.)	10	20	–	0	0	0	5	10	5	10	10	20	10	50	5	10
अंकुरण % (न्यूनतम)	85	85	–	90	90	90	75	75	75	75	75	75	85	85	85	85
बीज में नमी (अधिकतम%)	12	12	–	12	12	12	12	12	12	12	12	12	8	8	10	10

धान में 80 प्रतिशत; आ.बी.= आधार बीज; प्र.बी.= प्रमाणित बीज

श्रोत : भारतीय न्यूनतम बीज प्रमाणीकरण गुणवत्ता। केन्द्रीय बीज प्रमाणीकरण बोर्ड, भारत सरकार, 1988।

3.8.5.2.2 सफाई व श्रेणीकरण :

बीज को उपयुक्त नमी तक सुखाने के बाद उसकी सफाई की जाती है। बीज में से निर्जीव पदार्थ, खरपतवारों एवं अन्य फसलों के बीजों के अलग करना ही बीज की सफाई है जिसके लिए मशीन उपयोग किया जाता है। विभिन्न फसलों एवं खरपतवारों के बीज एक दूसरे से आमाप, आकार, भार, घनत्व, सतह के खुरदरेपन, रंग, विद्युतीयगुण आदि में भिन्न होते हैं जिसे मशीनों द्वारा एक दूसरे से अलग किया जाता है।

सफाई के बाद, स्वस्थ एवं पुष्ट बीजों को छोटे तथा सिकुड़े बीजों से अलग किया जाता है, जिसे श्रेणीकरण कहते हैं। श्रेणीकरण के लिए बीजों को उचित माप के छेदों वाली चालनी से छाना जाता है। श्रेणीकरण करने के लिए वायु एवं चालनी मशीन का व्यापक उपयोग किया जाता है।

3.8.5.2.3 बीज परीक्षण :

बीज परीक्षण बीज प्रमाणीकरण के लिए अनिवार्य है जिसे राज्य बीज प्रमाणीकरण एजेन्सी द्वारा प्रयोगशालाओं में किया जाता है। बीज का परीक्षण शुद्धता, अंकुरण क्षमता एवं नमी अंश के लिए किया जाता है।

3.8.5.2.4 उपचारण :

सफाई एवं श्रेणीकरण के बाद बीज को उपयुक्त कवकनाशी एवं कीटनाशी से उपचारित किया जाता है। कवकनाशी संक्रमणहारी एवं रक्षक होते हैं। संक्रमणहारी कवकनाशी जैसे– एग्रोसन जी.एन., सेरेसान आदि बीजों पर उपस्थित रोगाणुओं को नष्ट कर देते हैं। बीज उपचार से बीज–वाहित रोगों का नियंत्रण, मृदावाहित रोगों से सुरक्षा, भंडारण के दौरान कीटों से रक्षा तथा बोआई के बाद मृदा कीटों से बीज की रक्षा होती है।

3.8.5.2.5 बोरा बंदी एवं चिह्न :

उपचारण के बाद बीजों को 40 किलोग्राम के बोरो में भरकर सिल दिया जाता है। भारतीय बीज अधिनियम, 1966 के अनुसार प्रत्येक बोरे के साथ एक लेवेल लगाना अनिवार्य है। लेवेल में बीज का प्रकार, किस्म का नाम, बीज की शुद्धता, अंकुरण प्रतिशत, अंकुरण परीक्षण की तिथि, खरपतवारों के बीज का प्रतिशत, निर्जीव पदार्थों का प्रतिशत, बीज विक्रेता का नाम एवं पता, प्रमाणीकरण के वैधता की अवधि तथा अन्य सूचनाएँ दिया जाता है।

3.8.5.3 बीज प्रमाणीकरण :

विक्रेताओं द्वारा बीज को बेचे जाने के लिए प्रमाणीकरण कराया जाता है। बीज प्रमाणीकरण नियमतः अनिवार्य नहीं है फिर भी प्रमाणीकरण के उपरान्त बीज की विश्वसनीयता बढ़ जाती है। प्रमाणीकरण राज्य बीज प्रमाणीकरण एजेन्सी द्वारा किया जाता है। इसके लिए बीज उत्पादन प्रक्षेत्र निरीक्षण तथा परीक्षण किया जाता है । प्रक्षेत्र निरीक्षण के समय पार्थक्य दूरी, अवांछित पौधों की उपस्थिति, संकर किस्मों में नर एवं मादा जनकों का अनुपात व उनके बोने में त्रुटि, संकर किस्मों में मादा जनक के पौधा द्वारा परागकण उत्पादन, अनिष्टकारी खरपतवारों की उपस्थिति, अन्य फसलों की उपस्थिति, बीज वाहित रोग तथा अन्य रोगों की उपस्थिति देखी जाती है। प्रक्षेत्र निरीक्षण निश्चित समय पर किया जाता है जैसे फूल आने के पूर्व, फूल आने के दौरान तथा फसल कटाई से पूर्व किया जाता है। बीज निरीक्षण प्रयोगशाला में शुद्धता, अंकुरण क्षमता एवं नमी के अंश के लिए जाँच किया जाता है ।

सारांश

फसलों को उगाने के लिए किसी भी स्पेसीज का जो भाग प्रवर्ध्य के रूप में व्यवहार किया जाता है, उसे बीज कहते हैं। उन्नत किस्मों के अच्छी गुणवत्ता वाले बीज को उन्नत बीज कहा जाता है। उन्नत बीज की चार श्रेणियों होती है। नाभिकीय बीज, प्रजनक बीज, आधार बीज एवं प्रमाणित बीज । नाभिकीय बीज तथा प्रजनक बीज सम्बन्धित किस्म को विकसित करने वाले प्रजनक या संस्थान द्वारा उत्पादित किया जाता है। आधार बीज प्रजनक बीज का संतति होता है जिससे प्रमाणित बीज का उत्पादन होता है। प्रमाणित बीज का प्रमाणन राज्य बीज प्रमाणीकरण एजेन्सी द्वारा किया जाता है। प्रमाणित बीज किस्म विमोचित एवं अधिसूचित होने के बाद ही किया जाता है तथा उसकी आनुवंशिक शुद्धता, भौतिक शुद्धता, अंकुरण क्षमता, खरपतवारों के बीजों एवं रोग मुक्त होना तथा उपयुक्त नमी अंश निर्धारित मानक मापदण्ड के अनुसार होनी चाहिए । प्रमाणित बीज का उत्पादन के लिए खेत की स्थिति पार्थक्य, कृषि विधियों, खरपतवार रोग नियंत्रण, अवांछित पौधों एवं खरपतवार निकालना, कटाई एवं मड़ाई की निर्धारित विधियाँ है। मड़ाई के बाद बीज का संसाधन हेतु सुखाना, सफाई, श्रेणीकरण, परीक्षण, उपचार, बोराबंदी तथा चिह्नन किया जाता है । इसके बाद, मशीनों से सफाई की जाती है। बीज की शुद्धता अंकुरण तथा नमी का अंश जाँच करने के लिए प्रयोगशाला में परीक्षण किया जाता है। बीजों को उपयुक्त कवकनाशी एवं कीटनाशी से उपचारित किया जाता है। अंत में बीजों को 40 किलोग्राम के बोरों में भरकर सील कर दिया जाता है, और उपयुक्त टैग लगा दिया जाता है । बीज प्रमाणीकरण करने के लिए उपयुक्त समय पर प्रक्षेत्र निरीक्षण एवं बीज परीक्षण की जाती है।

प्रश्न

1. निम्नलिखित की परिभाषा दीजिए :

   (क) बीज (ख) बीज की शुद्धता (ग) बीज की अनुवंशिक शुद्धता

   (घ) भौतिक शुद्धता (ङ) प्रजनक बीज (च) प्रमाणित बीज

2. आधार बीज एवं प्रमाणित बीज के गुणवत्ता का वर्णन कीजिये ।
3. बीज की विभिन्न श्रेणियों का वर्णन कीजिये ।
4. प्रमाणित बीज उत्पादन विधि का वर्णन कीजिये ।
5. बीज प्रमाणीकरण क्या है और इसे कौन करता है । प्रमाणीकरण के लिए अनिवार्य विभिन्न परीक्षणों का वर्णन कीजिए ।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें :–

   (क) बीज की श्रेणियाँ

   (ख) प्रमाणित बीज

   (ग) बीज परीक्षण

   (घ) बीज प्रमाणीकरण

   (ङ) पार्थक्य दूरी।

*****

3.9. फसल प्रभेद एवम् उनकी खेती के लिए अनुशंसा / विमोचन

3.9.1. फसल प्रभेद

पौधा प्रजनन कार्यक्रम का उद्देश्य नई किस्मों का विकास करना होता है जो प्रचलित किस्मों से उपज क्षमता, रोग एवं कीट रोधिता, तथा अन्य लक्षणों में श्रेष्ठ हो । ऐसे श्रेष्ठ विभेदों के विकास के लिए विभिन्न प्रजनन विधियाँ अपनाई जाती हैं। श्रेष्ठ विभेदों का केन्द्रीय या राज्य किस्म विमोचन समिति द्वारा किस्म या प्रभेद के रूप में विमोचन किया जाता है। किसी विभेद का एक किस्म के रूप में विमोचन हेतु इसे तीन स्तर की प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है जैसे– मूल्यांकन, पहचान तथा विमोचन एवं अधिसूचना ।

3.9.2. मूल्यांकन

एक नये किस्म के विमोचन के लिए प्रत्येक विभेद का मूल्यांकन विभिन्न परीक्षणों के माध्यम से किया जाता है। इन परीक्षणों के आधार पर नवविकसित विभेदों के निष्पादन की श्रेष्ठता का निर्धारण सबसे अच्छी मौजूदा किस्म की तुलना में किया जाता है। इस प्रक्रिया में, सामान्यतया सात भिन्न प्रकार के परीक्षण किये जाते हैं : 1. स्टेशन परीक्षण 2. बहुस्थानीय परीक्षण 3. राष्ट्रीय परीक्षण 4. अनुकूली परीक्षण 5. मिनीकिट परीक्षण 6. रोग तथा कीट रोधिता परीक्षण एवं 7. गुणवत्ता परीक्षण । परीक्षण के नाम से ही परीक्षण का उद्देश्य पता चलता है। अनुकूली एवं मिनी कीट परीक्षण को छोड़कर सभी परीक्षण पुनरावर्तित (replicated) होते हैं। परीक्षण में प्लाट साईज तथा पुनरावर्तन की संख्या फसल, परीक्षण का उद्देश्य तथा परीक्षण के स्तर पर निर्भर करता है।

प्रजनक नवविकसित विभेदों का प्रारम्भिक परीक्षण स्टेशन परीक्षण के रूप में चेक किस्मों से तुलना कर करते हैं । श्रेष्ठतम विभेदों को बहुस्थानीय परीक्षण में शामिल किया जाता है। समन्वित परियोजनाओं के अन्तर्गत बहुस्थानीय परीक्षण किये जाते हैं जिसे चार वर्गों में बाँट कर किया जाता है : 1. प्रारम्भिक मूल्यांकन परीक्षण 2. एक समान क्षेत्रीय परीक्षण 3. शय विज्ञानीय परीक्षण तथा 4. प्रतिरूपी शय विज्ञानीय प्रयोग ।

सर्वप्रथम स्टेशन परीक्षण के श्रेष्ठतम विभेदों का प्रारम्भिक मूल्यांकन परीक्षण उसी क्षेत्र में करते हैं जिस क्षेत्र में वे विकसित किये गये हैं। प्रारंभिक मूल्यांकन परीक्षण में शामिल प्रविष्टियों का मूल्यांकन केवल एक वर्ष के लिए होता है। यदि उनका निष्पादन श्रेष्ठ है तो उन्हें एकसमान क्षेत्रीय परीक्षण में शामिल कर लेते हैं, अन्यथा उन्हें छाँट दिया जाता है। एकसमान क्षेत्रीय परीक्षण भी उसी क्षेत्र में करते है। इसमें प्लाट का माप बड़ा होता है। एक समान क्षेत्रीय परीक्षण में एक वर्ष के मूल्यांकन के बाद चेक से श्रेष्ठ प्रविष्टियों का शष्य विज्ञानीय परीक्षण करते है, तथा उनका एकसमान क्षेत्रीय परीक्षण एक वर्ष और के लिए जारी रखते है। इस समय उपज, रोग एवं कीट रोधिता, परिपक्वता आदि के लिए मूल्यांकन करते हैं। चेक से श्रेष्ठतम प्रविष्टियों को भारतीय समन्वित परियोजना के वार्षिक कार्यशाला में पहचान के लिए प्रस्तावित करते है। यदि विमोचन के लिए प्रविष्टि की पहचान हो जाती है, तो इसका मूल्यांकन अनुकूली अनुसंधान परीक्षण, शष्य विज्ञानीय परीक्षण तथा मिनीकिट परीक्षण में किया जाता है। किसी प्रविष्टि के एक किस्म के रूप में विमोचन के लिए एक समान क्षेत्रीय परीक्षण दो वर्षों तथा अनुकूली परीक्षण का एक वर्ष का आकड़ा अनिवार्य होता है।

नई किस्म के विमोचन के लिए इन परीक्षणों का आकड़ा अनिवार्य होता है। मिनीकिट परीक्षण किसान के खेतों पर किया जाता है। अनुकूली परीक्षण, की तरह यह परीक्षण भी प्रविष्टि के विमोचन के पहले एवं पहचान के बाद करते हैं। मिनीकिट परीक्षण, निदेशक उच्च उपज किस्में, कृषि एवं सिंचाई मंत्रालय, भारत सरकार के मार्गदर्शन में किया जाता है जिसका उद्देश्य संबंधित क्षेत्र के किसानों में नई किस्म को लोकप्रिय करना होता है ।

3.9.3. विमोचन पूर्व गुणन के लिए प्रविष्टियों की पहचान

सम्बन्धित फसल की समन्वित परियोजना की वार्षिक कार्यशाला में नई किस्म के रूप में विमोचन के लिए उत्कृष्ट विभेदों की पहचान की जाती है। कुछ फसलों में पहचान के लिए प्रस्ताव पर भाग लेने वाले सभी वैज्ञानिक मिलकर विचार करते हैं, जबकि दूसरी फसलों में विशेष किस्म पहचान उपसमिति इन पर विचार करती है। इस समिति में उपमहानिदेशक, फसल विज्ञान, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली, अध्यक्ष होते हैं।

3.9.4. केन्द्रीय किस्म विमोचन समिति द्वारा किस्म का विमोचन

अनुकूली परीक्षण, रोग–कीट रोधिता एवं गुणवत्ता जाँचों के आँकड़ों के आधार पर, जिसे प्रजनक ने उस विभेद को विकसित

किया जाता है, वह एक प्रस्ताव केन्द्रीय किस्म विमोचन समिति के पास उस विभेद को एक नई किस्म के रूप में विमोचित करने के लिए प्रस्तुत करता है। यह प्रस्ताव एक निश्चित प्रारूप में जिसमें विभेद के विकास में उपयोग की गई प्रजनन विधि तथा वंशावली, विभिन्न परीक्षणों में विभेद की निष्पादन क्षमता, रोग–कीट, गुणवत्ता परीक्षण का पूरा ब्यौरा दिया रहता है। प्रजनक नये विभेद का किस्म के रूप में नामकरण करता है। केन्द्रीय किस्म विमोचन समिति को अब फसल मानक एवं किस्म विमोचन उपसमिति (subcommittee on crop standards and release of varieties; SCSRV) कहा जाता है।

केन्द्रीय किस्म विमोचन समिति द्वारा एक क्षेत्र के लिए किसी किस्म के विमोचित किये जाने के बाद निदेशक, उच्च उपज किस्में कृषि एवं सिचाई मंत्रालय, भारत सरकार, उस किस्म के बीज गुणन एवं वितरण के लिए सम्बंन्धित क्षेत्र के राज्यों के सम्बन्धित अधिकारियों की अधिसूचना जारी करते हैं। किसी किस्म के बीज के प्रमाणीकरण से पहले भारत सरकार कृषि एवं सिंचाई मंत्रालय द्वारा उनके विमोचन होने की अधिसूचना जारी होना अनिवार्य है।

3.9.5. राज्य किस्म विमोचन समिति द्वारा किस्म विमोचन

केन्द्रीय किस्म विमोचन समिति के अतिरिक्त हर राज्य में एक राजकीय किस्म विमोचन समिति भी होती है। राज्य में कृषि विश्वविद्यालयों, कृषि अन्वेषण संस्थानों आदि द्वारा विकसित नये श्रेष्ठ विभेदों का विमोचन उस राज्य के उक्त समिति द्वारा की जाती है। इस समिति द्वारा समन्वित परीक्षणों के आकड़ों के साथ–साथ राज्य में विभिन्न स्तर पर किये गये परीक्षणों के आधार पर सर्वश्रेष्ठ प्रविष्टि का विमोचन हेतु स्वीकार किया जाता है।

राजकीय किस्म विमोचन समिति द्वारा विमोचित किस्म के प्रमाणित बीजोत्पादन के लिए उसका कृषि एवं सिंचाई मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा अधिसूचित होना आवश्यक है। इसके साथ ही, केवल उन्हीं किस्मों की अधिसूचना जारी हो सकती है, जिसकी सम्बन्धित परियोजना की कार्यशाला द्वारा पहचान की गई है। राजकीय किस्म विमोचन समिति उन विभेदों को भी विमोचित कर सकती है, जिनकी सम्बन्धित परियोजना की कार्यशाला द्वारा पहचान न की गई हो । लेकिन ऐसी किस्मों के बीज का प्रमाणीकरण नहीं किया जा सकता है।

सारांश

जब किसी विभेद को किसानों द्वारा फसल उगाने के लिए किस्म विमोचन समिति द्वारा विमोचित किया जाता है तो उस विभेद को किस्म कहते हैं। किसी विभेद की किस्म के रूप में विमोचन के लिए उसका मूल्यांकन, पहचान, विमोचन एवं अधिसूचन किया जाता है। अधिसूचित किस्म का ही बीज प्रमाणित किया जा सकता है। विभेद के मूल्यांकन के लिए उसका परीक्षण स्टेशन परीक्षण, बहुस्थानीय परीक्षण के लिए प्राथमिक मूल्यांकन परीक्षण, एक वर्ष, (2) एक समान क्षेत्रीय परीक्षण दो वर्ष, (3) शष्य विज्ञानीय परीक्षण, 4. प्रतिरूपी शष्य विज्ञानीय परीक्षण पहचाने गये विभेदों के लिऐ किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त पहचाने गये विभेदों को अनुकूल अनुसंधान परीक्षण अनुसंधान केन्द्रों तथा राज्य सरकार के प्रक्षेत्रों पर किया जाता है। मिनीकिट परीक्षण, निदेशक कृषि एवं सिंचाई मंत्रालय, भारत सरकार के मार्ग दर्शन में किया जाता है । किसी विभेद को परीक्षण के आधार पर श्रेष्ठतम होने पर फसल वार्षिक कार्यशाला में पहचान किया जाता है । पहचाने गये विभेदों को अनुकूल परीक्षण एवं मिनीकिट परीक्षण किया जाता है। पहचाने गये विभेदों को केन्द्रीय या राज्य किस्म विमोचन समिति किस्म के रूप में विमोचित करती है। विमोचन की गई किस्म की अधिसूचना निदेशक, उच्च उपज किस्में कृषि एवं सिंचाई मंत्रालय भारत सरकार द्वारा की जाती है।

प्रश्न

1. अनुकूल एवं मिनीकिट परीक्षण का संक्षिप्त वर्णन करें ।
2. संक्षिप्त टिप्पणी लिखें :– स्टेशन परीक्षण, बहुस्थानीय परीक्षण, शष्य विज्ञानीय परीक्षण, रोग–व्याधि एवं कीट रोधिता परीक्षण, अधिसूचना: किस्म की पहचान ।
3. केन्द्रीय या राज्य किस्म विमोचन समिति द्वारा नई किस्मों का विमोचन कैसे किया जाता है ?

*****

3.10 बौद्धिक संपदा अधिकार: परिभाषा, वर्गीकरण तथा महत्व

3.10.1 परिचय:

आर्थिक लाभ मनुष्य को अथक परिश्रम, अद्वितीय कौशल एवं सतत अन्वेषण के लिए प्रेरित करने वाला प्रमुख कारक है। इसलिए, समाज एवं सरकार दोनों ही बहुत पहले से ऐसे कदम उठाते रहे हैं, जिससे अन्वेष्कों के आर्थिक हितों का संरक्षण हो सके। इस कदम का मुख्य उद्देश्य अन्वेषण की प्रवृति को बढ़ावा देना है। पेटेंट संबंधी पहला कानून वेनिस में 1947 में पारित किया गया था। इस कानून द्वारा कारीगरों को उनके आविष्कार के उपयोग का एकाधिकार प्रदान किया गया था। ब्रिटेन में प्रोपराइटरीशिप अधिनियम 1663 में ही पारित किया गया था ।

भारतवर्ष में कानूनी रूप से, वर्ष 1856 में आविष्कार सुरक्षा अधिनियम लागू किय गया । यह अधिनियम ब्रिटिश पेटेंट अधिनियम (1852) पर आधारित था । 1872 में पेटेंट एवं डिजाइन सुरक्षा अधिनियम पारित किया गया । फिर 1888 में आविष्कार एवं डिजाइन अधिनियम पारित हुआ। आजकल भारतीय पेटेंट (संशोधन) अधिनियम, 1999 लागू है। डिजाइनों की सुरक्षा भारतीय पेटेंट एवं डिजाइन अधिनियम, 1911 के तहत होती है उसी तरह ट्रेडमार्क की सुरक्षा 1जून 1948 से लागू है। इससे संबंधित अधिनियम को भारतीय व्यापार एवं पण्य अधिनियम, 1958 कहते हैं।

3.10.2 बौद्धिक संपदा (intellectual property)

संपदा (property) का शाब्दिक अर्थ भौतिक वस्तु से है जैसे जमीन या धन में रूप में मौजूद संपत्ति। उपरोक्त परिभाषा वास्तव में, वस्तुगत या भौतिक संपदा की है। इसके विपरीत बौद्धिक संपदा को उन्नति बुद्धि एवं कौशल के उपयोग से होती है, और यह सामान्यतः ऐसे विचारों, अवधारणाओं, डिजाइनों, प्रक्रियाओं आदि के रूप में होती है, जिसकी सहायता से किसी उपयोगी उत्पाद का सृजन किया जा सकता हो। इस प्रकार, भौतिक संपदा का स्वयं आर्थिक मूल्य होता है, जबकि बौद्धिक संपदा को आर्थिक मूल्य के उत्पाद के विकसित करना होता है। उदाहरण के लिए, किसी एंटीवायोटिक के उत्पादन की प्रक्रिया का उपयोग करके जब उस ऐंटीबायोटिक का उत्पादन किया जाएगा, तभी उस प्रक्रिया का आर्थिक मूल्य होगा।

बौद्धिक संपदा की सबसे बड़ी समस्या यह है कि अन्य लोगों द्वारा इनकी नकल की जा सकती है, जिसमें इस संपदाओं की खोज करने वाले अन्वेष्कों को होने वाले आर्थिक लाभ में कमी आती है। अतः सरकार द्वारा अन्वेषकों को उनके अन्वेषण से आर्थिक लाभ कमाने का एकाधिकार दिया जाता है, जिसे बौद्धिक संपदा अधिकार कहते हैं, यह अधिकार किसी अन्वेषक की बौद्धिक संपदा से किसी अन्य व्यक्ति को लाभ अर्जित करने से रोकता है।

3.10.3 बौद्धिक संपदा अधिकार की सुरक्षा

बौद्धिक संपदा अधिकारों की सुरक्षा करने के निम्नलिखित मुख्य तरीके हैं :–

1. व्यापार रहस्य , 2. पेटेंट, 3. पादप प्रजनक अधिकार, 4. कॉपीराइट

3.10.3.1 व्यापार रहस्य

जब कोइ अन्वेषक, संस्था या कंपनी किसी अन्वेषण को एक रहस्य के रूप में रखते हुए, और उसे किसी अन्य को ज्ञात होने दिए बिना उसका व्यापारिक उपयोग करती है, तो उसे व्यापार रहस्य कहा जाता है। आधुनिक काल का सबसे भली–भाँती सुरक्षित व्यापार रहस्य कोका कोला नामक शीतल पेय का सृजन है। व्यापार रहस्य के माध्यम से किसी सूत्रण उत्पादन प्रक्रिया, सूक्ष्मजीव विभेद, कोशिका लाइन आदि को सुरक्षित रख सकते हैं। लेकिन इसमें कई प्रकार की बौद्धिक संपदाओं जैसे– किसी पुस्तक या संगीत के कैसेट को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता है।

संबंधित समस्याएँ :

1. इनकी सुरक्षा बहुत कठिन होती है।
2. कई प्रकार की बौद्धिक संपदाओं की सुरक्षा इसके द्वारा नहीं की जा सकती है।,
3. सूत्रण आदि के रहस्य बने रहने से संबंधित क्षेत्र में आगे बढ़ने में बाधा आती है।

भेड़ का शाहाबादी नस्ल

माँस और दरी ऊन

शाहाबादी (Shahabadi)

यह बिहार के बक्सर, भोजपुर, पटना, रोहतास, भभुआ, औरंगाबाद, गया और जहानाबाद जिलों में पायी जाती है। यह नस्ल मध्यम आकार की और लेगी (leggy) होती है। ऊन का रंग प्रायः भूरा होता है पर कभी–कभी उस पर काले धब्बे होते हैं। कान मध्यम आकार के और लटके हुये होते हैं। पूँछ काफी लम्बी और पतली होती है। नर तथा मादा दोनों को सींग नहीं होते। ऊन अत्यन्त मोटा होता है।

मालपुरा (Malpura)

भेंड़ की यह नस्ल राजस्थान के जयपुर, टोंक, सवाईमाधोपुर, अजमेर, भीलवाड़ा और बूंदी जिलों में पायी जाती है। इनका शरीर सुगठित होता है। चेहरा हल्का भूरा होता है। कान छोटे और नलिकाकार होते हैं। नर एवं मादा दोनों को सींग नहीं होते हैं। पूँछ मध्यम आकार की लम्बी तथा पतली होती है। ऊन उजला, काफी मोटा और बालों वाला होता है। पेट और पैर पर ऊन नहीं होते।

मुजफ्फरनगरी (Muzaffarnagari)

इसका मूल स्थान उत्तर प्रदेश का मुजफ्फरनगर जिला है। मुख्य रूप से यह माँस के लिये पाला जाता है लेकिन यह मोटा कालीन ऊन भी प्रदान करता है। यह नस्ल मध्यम से बड़े आकार की सुगठित शरीर वाली होती है। इसका रंग उजला होता है पर कभी–कभी भूरे या काले धब्बे देखे जा सकते हैं। नर एवं मादा दोनों को सींग नहीं होते। नर में कभी कभी अल्पविकसित सींग देखे जा सकते हैं। कान लम्बे तथा गिरे हुये होते हैं। पूँछ काफी लम्बी होती है। ऊन उजला तथा मोटा तथा खुला हुआ होता है। पेट और पैर पर ऊन नहीं होते हैं।

गंजाम (Ganjam)

गंजाम नस्ल की भेड़ उड़ीसा के गंजाम, गजपति, रायगड़ा और कोरापत जिले तथा फूलबनी, नयागढ़ और खुर्दा जिले के कुछ भागों में पायी जाती है। इसका रंग भूरा से गहरा टैन (Tan) होता है। कुछ जानवरों के शरीर और चेहरे पर उजले धब्बे पाये जाते हैं। सिर मध्यम आकार का होता हैं और उसपर कोई ऊन नहीं होता। नर को सींग होता है पर मादा को नहीं होता । थन छोटे और गोल होते हैं और उसमें छोटे – छोटे छीमी पीछे की ओर अवस्थित होते हैं। ऊन छोटा तथा बालनुमा (hairy) होता है।

माँस वर्ग

नेल्लोर :

यह आंध्रप्रदेश के नेल्लोर और समुद्र तटीय जिलों में पायी जाती है। यह भेड़ की वैसी नस्ल है जिसपर प्रायः ऊन नहीं होता और दूर से यह बकरी की तरह लगती है। रंग के आधार पर इसके तीन प्रकार होते हैं:– पल्ला – जो या तो पूरा उजला होता है या उजला जिसके सिर, गर्दन, पीठ और पैर पर हल्के भूरे धब्बे होते हैं। जोदीपी – यह उजला होता है और इस पर काले धब्बे होते हैं। डोरा– यह पूर्णतः भूरा होता है। कान लम्बे और गिरे हुये होते हैं। पैर लम्बे और पतले होते हैं। पूँछ छोटी और पतली होती है।

मांड्या (Mandya)

भेंड़ की यह नस्ल माँस के लिये बहुत ही अच्छी मानी जाती है। इसका मूल स्थान कर्नाटक का मांड्या जिला है। इसका मुख्य रंग धूसर उजला है। ललाट चौड़ा तथा हल्का रोमन नाक होता है। प्रायः नर एवं मादा दोनों को सींग नहीं होते लेकिन कभी कभी नर में सींग पाया जाता है। वयस्क नर एवं मादा के शरीर का औसत वजन क्रमशः करीब 37 कि॰ग्राम और 27 कि॰ग्राम होता है।

भेड़ की नस्लें (Sheep breeds)

भारत में वर्णित भेड़ों की 44 नस्ले हैं फिर भी अवर्णित नस्ल के भेड़ों की संख्या करीब 25 प्रतिशत है। शाहाबादी नस्ल एक वर्णित नस्ल है जो बिहार का है। भारतीय भेड़ की नस्लों को उनकी उपयोगिताओं के आधार पर चार भागों में वर्गीकृत किया गया है।

1. **परिधान ऊन (Apparel wool) :** इसकी प्रमुख नस्लें हैः– नीलगिरी (Nilgiri), नीलगिरी सिन्थेटिक्स (Nilgiri Synthetics), हिसारडेल (Hissardale), अविवस्त्र (Avivastra), भारत मेरिनो (Bharat Merino), करनाह (Karnah), सिन्थेटिक्स (Synthetics), काश्मीर मेरीनो (Kashmir Merino) आदि।

   इसमें हिसारडेल, काश्मीर मेरिनो, नीलगिरी, अविवस्त्र, अविकालीन और भारत मेरिनो को विदेशी एवं देशी भेड़ की नस्लों के संकरण से विकसित किया गया हैं।

2. **दरी ऊन (Carpet wool) :** इसके अन्तर्गत नाली (Nali), चोकला (Chokla), सोनाडी (Sonadi), मागरा (Magra), पट्टनवाडी (Pattanwadi), तिबेतन (Tibetan), अविकालीन (Avikalin), गड्डी (Gaddi), रामपुर बुशहर (Rampur Bushair), पूंची (Poonchi), गुरेज (Gurej) आदि प्रमुख नस्ले हैं।

3. **माँस एवं दरी ऊन :** इसकी प्रमुख नस्ले हैः– मुजफ्फरनगरी (Muzaffarnagari), जलाउनी (Jalauni), डेक्कानी (Deccani), बेलारी (Bellary), गंजाम (Ganjam), बालनगीर (Balangir), शाहाबादी (Shahabadi), छोटानागपुरी (Chhotanagpuri), कोयम्बटूर (Coimbatore), मारवारी (Marwari), जैसलमेरी (Jaisalmeri), मालपुरा (Malpura) एवं पुगल (Pugal)।

4. **माँस :** इस वर्ग के अन्तर्गत प्रमुख नस्लें– नेलोर (Nellore), मान्ड्या (Mandya), हसन (Hassan), मेचेरी (Mecheri), किलाकरसाल (Kilakarsal), भेम्बूर (Vembur), कान्गुरी (Kanguri), मद्रास रेड (Madras Red), रामनाड व्हाईट (Ramnad white), ट्रीची ब्लैक (Trichi Black) आदि हैं।

देशी भेड़ों के कुछ प्रमुख नस्लों की विशेषतायें निम्न हैः–

परिधान ऊन

नीलगिरी (Nilgiri) :

इसे परिधान ऊन के अर्न्तगत वर्गीकृत किया गया है। यह देशी कोयम्बटूर नस्ल एवं विदेशी टास्मानीयन मेरीनो, चेभीऔट और साउथ डाउन के संकरण से विकसित हुआ है। यह मध्यम आकार की नस्ल है जिसका रंग उजला एवं चेहरे एवं शरीर पर कभी कभी भूरे धब्बे होते हैं। कान चौड़े होते हैं। नर में सींग की कली होती है, मादा में सींग नहीं होता। पूँछ मध्यम एवं पतली होती है।

दरी

चोकला (Chokla)

इसका मूल स्थान राजस्थान के चुरू, झुनझुनु, बीकानेर, जयपुर एवं नागौर जिले हैं। यह हल्के से मध्यम आकार की नस्ल है। इसके चेहरे पर ऊन नहीं होता है। इसका रंग लाल भूरा होता है। कान छोटे एवं मध्यम आकार के होते हैं। नर एवं मादा दोनों में ही सींग नहीं होते। पूँछ पतली और मध्यम आकार की होती है।

नाली (Nali)

इसका मूल स्थान राजस्थान के गंगानगर तथा झुनझुनु जिले तथा हरियाणा के दक्षिणी हिसार और रोहतक जिले हैं। यह मध्यम आकार की भेंड़ है। इसका चेहरा हल्का भूरा होता है। नर एवं मादा दोनों को सींग नहीं होते हैं। इसके कान बडे तथा पत्तेदार होते हैं। पँछ छोटी से मध्यम आकार तथा पतली होती है। ऊन उजला, मोटा तथा घना होता है। इसके ललाट, पेट तथा पैर ऊन से ढके रहते हैं।

3.10.3.2 पेटेंट

पेटेंट एक प्रमाण–पत्र के रूप में होता है. जिसे सरकार किसी अन्वेषक या आविष्कारक को उसके द्वारा किए गए अन्वेषण या आविष्कार को देती है। यह पेटेंट उस आविष्कारक को यह अधिकार देता है कि वह अन्य लोगों को अपने आविष्कार की नकल करने, उसका उत्पादन करने, उसका उपयोग या व्यापार करने से रोक दे।

पेटेंट की आवश्यकताएँ : पेटेंट जारी किए जाने के लिए निम्नलिखित प्रमुख आवश्यकताएँ होती हैं।

1. नवीनता : आविष्कार नया होना चाहिए।
2. आविष्कारिता : आविष्कार ऐसा होना चाहिए, जो कि उस कला में निपूर्ण व्यक्ति को स्वतः स्पष्ट न हो । अर्थात्, आविष्कार में कुछ नई खोज होनी चाहिए।
3. औद्योगिक अनुप्रयोग एवं उपयोगिता : आविष्कार का तुरंत या भविष्य में औद्योगिक अनुप्रयोग होना चाहिए । वह समाज तथा राष्ट्र के लिए भी उपयोगी हो।
4. पेटेंटनीयता : आविष्कार को संबंधित देश के लागू पेटेंट अधिनियम एवं इस अधिनियम को तात्कालिक मान्य व्याख्या के अनुसार पेटेंटीनीय होना चाहिए।

3.10.3.4 कॉपीराइट

कई बौद्धिक संपदाओं का पेटेंट नहीं हो सकता है इनमें से कई संपदाओं, जैसे– पुस्तकें, श्रव्य एवं दृश्य, कैसेट आदि, की सुरक्षा कॉपीराइट द्वारा की जाती है । यह कानून अन्य लोगों द्वारा हल संपदाओं की पूर्ण या आर्थिक प्रतिलिपि बनाने का निषेध करता है। लेकिन कॉपीराईट कानून इन संपदाओं में मौजूद विचारों, सूचनाओं तथा अवधारणाओं के उपयोग को नहीं रोकता है। भारतीय कॉपीराईट कानून विश्व स्तर के है।

3.10.3.3 पादप प्रजनक अधिकार

किसी फसल की किस्म के प्रजनक, उदगमकर्ता या मालिक को सरकार द्वारा इस किस्म के संदर्भ में दिए जाने वाला अधिकार है। इस अधिकार के द्वारा संबंधित किस्म का प्रजनक / उदगमकर्ता / मालिक अन्य लोगों को उस किस्म के प्रवार्ध्यों के उत्पादन अथवा उनमें वाणिज्यीकरण पर रोक लगा सकता है।

इस अधिकार के तहत सुरक्षा की अवधि 15–20 वर्ष होती है। किसी किस्म का पादप प्रजनक अधिकार धारक किसी अन्य व्यक्ति या संस्था को उस किस्म के प्रवार्ध्यों में उत्पादन / विपणन का अधिकार दे सकता है। किसी किस्म के पादप प्रजनक अधिकार धारक से यह उम्मीद की जाती है कि वह पी.बी.आर. के स्थानांतरण अथवा उस किस्म में प्रवार्ध्यों की बिक्री के लिए उचित कीमत रखेगा। यदि वह ऐसा नही करता है तो लोकहित में सरकार उस किस्म में प्रवार्ध्यों के उत्पादन / विपणन का लाइसेंस किसी संस्था को दे सकती है। इसे अनिवार्य लाइसेंस कहा जाता है।

वणिज्य संबंधी बौद्धिक संपदा अधिकार के प्रावधानों के तरह भारत के सामने निम्नलिखित तीन विकल्प थे : 1. यू.पी.ओ.आर. अधिनियम (1991) को लागू करना 2. पादप किस्मों के लिए पेटेंट कानून करना 3. यू.पी.ओ.आर. (1991) या पेटेंट के समकक्ष सुरक्षा देने वाली अपनी स्वयं की पी.बी.पी. पद्धति विकसित करना । भारत ने अपनी स्वयं की पद्धिति विकसित करने का फैसला किया, जिसका परिणाम पादप किस्म सुरक्षा एवं कृषक विशेषाधिकार है।

पी.बी.आर. द्वारा पादप किस्मों की सुरक्षा होती है। लेकिन इन किस्मों के उत्पादन के लिए उपयोग में आने वाले पादप विभेदों तथा प्रजनन विधियों / प्रक्रियाओं को सुरक्षा नहीं दी जाती हैं।

3.10.3.3.1 इतिहास

सबसे पहले पौधों के लिए पेटेंट जारी करने के लिए एक अधिनियम 1966 में जर्मनी में लागू किया गया था। बाद में इसी प्रकार के अधिनियम यू.एस.ए. तथा अन्य देशों में भी पारित किया गए । प्रथम यू.पी.ओ.आर., अन्तर्राष्ट्रीय नवीन पादप किस्म सुरक्षा संघ पर 1961 में पेरिस में हस्ताक्षर किए गए । 1993 में यू.पी.ओ.आर. के 26 सदस्य थे : यू.पी.ओ.आर. के सदस्य देश इस परिपाटी में सर्वसम्मति से बनाए गए ढाँचे के अनुरूप ही अपने पी.बी.आर. कानून बनाते हैं। इसके अतिरिक्त, एक सदस्य देश के नागरिकों को अन्य देशों में भी पी.बी.आर. अधिकार प्राप्त होते हैं। भारत में अभी वर्ष 2000 में पी.बी.आर. संबंधी कानून पारित हुआ है।

पी.बी.आर. की आवश्यकताएँ

UPOV अधिनियम (1991) के प्रावधानों के अंतर्गत सुरक्षा के लिए किसी पादप किस्म को निम्नलिखित शर्तें पूरा करना जरूरी है

1. नवीनता, 2. विविक्तकारिता, 3. समरूपता, 4. स्थायित्व

पी.बी.आर. द्वारा सुरक्षा का मानक

UPOV अधिनियम (1991) के अंतर्गत सुरक्षित किस्मों को निम्नलिखित क्षेत्रों के सुरक्षा प्राप्त है।

1. सुरक्षित किस्म के सभी भागों (उत्पादों) का वाणिज्यिक उद्देश्य से उत्पादन तथा उनकां विपणन या विक्रय पी.बी.आर. धारक का एकाधिकार होता है ।
2. किसान को यह सुविधा दी जा सकती है, कि वह अपने उत्पाद के एक भाग का अपने खेतों में बीज के रूप में उपयोग करने के लिए पी.बी.आर. धारक को अधिकार शुल्क नहीं दें। लेकिन यह विशेषाधिकार (कृषक विशेषाधिकार) UPOV अधिनियम (1991) में प्रदत्त नहीं है। और यह सदस्य देशों के राष्ट्रीय कानूनों पर आश्रित है।
3. सुरक्षित किस्मों का वैज्ञानिक शोधों एवं प्रजनन के लिए मुक्त रूप से उपयोग किया जा सकता है इसे प्रजनन छूट कहते हैं। लेकिन यह छूट वस्तुतः व्युत्पन्न किस्मों के लिए नहीं है। जब किसी किस्म के एक या कुछ जीनों में परिवर्तन (उत्परिवर्तन अथवा किसी अन्य विधि द्वारा) करके नई किस्म का विकास किया जाता है तो नई किस्म को जनन किस्म से वस्तुतः व्युत्पन्न कहा जाता है।

सारांश

संपदा का शाब्दिक अर्थ भौतिक वस्तु से है जैसे कि जमीन या धन के रूप में मौजूद संपत्ति होता है जबकि बौद्धिक संपदा का अर्थ ऐसे विचारों, अवधारणाओं, डिजाइनों, प्रक्रियाओं आदि के रूप में होती है, जिसकी सहायता से किसी उपयोगी उत्पाद का सृजन किया जा सकता है। सरकार द्वारा अन्वेषकों को उनकी खोजों से आर्थिक लाभ कमाने का एकाधिकार दिये जाने को बौद्धिक संपदा अधिकार कहते हैं। इसकी सुरक्षा करने के लिए मुख्यतः चार तरह के तरीके अपनाये जाते हैं: 1. व्यापार रहस्य 2. पेटेंट 3. पादप प्रजनन अधिकार एवं 4. कॉपीराइटर। पादप प्रजनक अधिकार संबंधित प्रजनक को उसके द्वारा विकसित प्रभेद के द्वारा आर्थिक लाभ देने को कहते हैं। उसी प्रकार पुस्तक, श्रव्य एवं दृश्य कैसेट आदि की सुरक्षा कॉपीराइट के द्वारा की जाती है। इन सारे कदमों का मुख्य उद्देश्य अन्वेषण की प्रवृति को बढ़ावा देना है।

अभ्यास

1. बौद्धिक संपदा एवं बौद्धिक संपदा अधिकार की परिभाषा दीजिए । बौद्धिक संपदा को सुरक्षा की विभिन्न विधियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ।
2. पादप प्रजनक अधिकार क्या है ? इसका विशेषताए लिखें ?
3. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए
   1. कृषक अधिकार,
   2. प्रजनक छूट,
   3. पेटेंट,
   4. बौद्धिक संपदा,
   5. व्यापार रहस्य

*****